- श्रीराम शर्मा आचार्य

संयुक्त परिवार के संयुक्त उत्तरदायित्व

✷

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

✷

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ **मूल्य : १०.०० रुपये**

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

प्राचीन प्रणाली के संयुक्त परिवार एक दृष्टि से वर्तमान समय की सहयोग समितियों के प्रतीक थे। जैसे सौ व्यक्तियों का भोजन एक भोजनालय में बनाए जाने और सौ का अलग-अलग बनाने में परिश्रम तथा व्यय के परिमाण में बहुत भारी अंतर पड़ जाता है, वही अंतर दस-बीस व्यक्तियों के एक सम्मिलित परिवार और एक-एक पति-पत्नी के व्यक्तिगत परिवारों में है। इससे कोई इनकार कर ही नहीं सकता कि परिवार के साथ-साथ भाई-बंधु अपने बाल-बच्चों सहित एक परिवार में रहें, तो उनको कम खर्च में ऐसी सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं, जो अकेले में कभी संभव नहीं हो सकतीं। इसमें यदि कभी बाधा पड़ती है तो उसका कारण लोगों की अनुचित या दूषित मनोवृत्ति ही होती है। यदि इसके सुधार का प्रयत्न कर लिया जाए तो सम्मिलित परिवार जीवन को सुखी बनाने में बड़ी दूर तक सहायक बन सकता है।

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

संयुक्त परिवार थोपें नहीं, बनाएँ

आधुनिक दर्शन शास्त्र के प्रणेता और प्रतिनिधि विद्वानों में से कइयों का मत है कि सृष्टि का विकास द्वंद्व से हुआ है। कमजोर प्राणियों को दबाकर शक्तिशाली प्राणी अपना वर्चस्व कायम रखते हैं और कमजोर प्राणियों का अस्तित्व धीरे-धीरे क्षीण होते हुए लुप्त हो जाता है। इसके विपरीत दूसरे विचारकों का कथन है कि सृष्टि का विकास आपसी सहयोग के आधार पर हुआ है। इस प्रतिपादन की पुष्टि के लिए जो तर्क दिए जाते हैं, वे तथ्य पूर्ण भी प्रतीत होते हैं। जैसे चींटी इस सृष्टि की एक कमजोर इकाई है। उससे कमजोर जीव-जंतु भी हो सकते हैं। यदि प्रकृति शक्तिशाली को ही जीने का अधिकार देती तो इन क्षुद्र जीव-जंतुओं का अस्तित्व कभी का लोप हो गया होता।

कौन-सा मत सही है और कौन-सा गलत इस विवाद की चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। इसकी चर्चा केवल इसलिए की जा रही है कि मनुष्य समाज में सभी स्तर के व्यक्ति रहते हैं—कमजोर भी और शक्तिशाली भी। सभी अपने-अपने ढंग से जीते हैं और जीवन सुविधाओं का अधिकारपूर्वक लाभ उठाते हैं। यदि शक्तिशाली, बुद्धिमान और मेधावान व्यक्तियों की गणना की जाए तो उनकी संख्या थोड़ी-सी ही होगी। इसके उपरांत भी मनुष्य समाज ने निरंतर प्रगति की है और जो स्थिति कल थी आज उससे बेहतर स्थिति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है। यह प्रगति और सफलता केवल आपसी सहयोग के द्वारा ही संभव हो सकी है। सभ्यता के आरंभ में जब तक मनुष्यों ने एक-दूसरे से सहयोग करना नहीं सीखा था, तब तक हम आदिम युग में ही जीते रहे, परंतु जैसे-जैसे एक-दूसरे का सहयोग लेना आरंभ हुआ सभ्यता की विकास यात्रा भी आरंभ हुई है।

वर्तमान में मनुष्य की सभ्यता को जिस उज्वल स्थिति में देखा जाता है उसका मूल सहयोग ही है। इसी के आधार पर एकता का बल, संगठन की शक्ति, मैत्री भावना और परस्पर अवलंबन की नींव पड़ी। आरंभ में भी जो दूसरे प्राणी मनुष्य से अधिक शक्तिशाली थे. शारीरिक दृष्टि से मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक सक्षम थे इसी सहयोग और संगठन के अभाव में जहाँ के तहाँ अविकसित पड़े रहे। उनकी शक्तियाँ विशृंखलित, विघटित और असंगठित ही रहीं।

यही नियम परिवारों पर भी लागू होता है। परिवार समाज और व्यक्ति के बीच की एक कड़ी है। यह भी कहा जा सकता है कि समाज और व्यक्ति के निर्माण केंद्र परिवार हैं। परिवार में जैसा वातावरण होगा—व्यक्ति की मनोभूमि पर, उसके स्वभाव पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा और जैसे परिवार होंगे उसकी प्रतिक्रिया समाज पर भी अनिवार्य रूप से होगी। परिवार की स्थिति का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह बाद की बात है। प्रथम विचारणीय तो यही है कि उन परिवारों की कैसी बुरी दुर्दशा होती है, जिनमें सहयोग, सद्भाव, आत्मीयता और संगठन का अभाव रहता है। इसके विपरीत जिन परिवारों में सहयोग, संगठन, एकता और पारिवारिक सद्भाव बना रहता है, वह दिनों दिन उन्नति करता चला जाता है। परिवारोत्तर संस्थाएँ भी संगठन के बल पर ही उन्नति करती और सफल होती हैं। बड़ी कंपनियों, फर्मों, संस्थाओं और व्यापारिक प्रतिष्ठानों का यदि निरीक्षण करें तो उनकी सफलता के मूल में कर्मचारियों का आपसी तालमेल, संगठित व्यवस्था ही कारण रूप में विद्यमान मिलेगी।

संयुक्त परिवारों से सुख-शांति और सुव्यवस्था की संभावना अधिक इसलिए रहती है कि वहाँ सदस्यों में पारस्परिक सहयोग का संबंध बना रहता है। परिवार की जिम्मेदारी को सभी सदस्य थोड़ा-थोड़ा करके निभाते चलते हैं और किसी पर असह्य भार नहीं आ पाता, विघटित परिवार में सभी उत्तरदायित्वों का भार पति-पत्नी पर ही रहता है। किसी निकटवर्ती स्वजन का सामीप्य न मिलने के कारण हारी-बीमारी में जो परेशानियाँ आती हैं, उनकी चक्की में भी उन्हें पिसना पड़ता है। संयुक्त परिवार में ऐसी अवांछित स्थितियों के

कारण उत्पन्न हुई कठिनाइयाँ भी हँसी खेल की तरह सह ली जाती हैं।

यह भी एक तथ्य है कि अलग-अलग कोई प्रयत्न किए जाएँ तो उनमें मिलने वाली सफलता महँगी ही पड़ती है। एक छोटा-सा उदाहरण ही देखें। प्रायः प्रत्येक परिवार में खाना पकाने, बर्तन साफ करने और बच्चों की देखभाल करने के लिए गृहिणी को अपना सारा समय लगाना पड़ता है। इस प्रकार आधी जनसंख्या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यवस्था करने में ही जुटी रहती है। लेकिन रूस, चीन और अन्य साम्यवादी देशों में सामूहिक व्यवस्था के जो प्रयोग किए गए हैं, उनसे एक बड़ी जनशक्ति का समय और श्रम नष्ट होने से बचाया जा सकता है। सहकारिता के जो प्रयोग इन दिनों चल रहे हैं उनसे भी यही निष्कर्ष निकल रहे हैं कि अलग-अलग कार्य करने, छोटी-छोटी व्यक्तिगत इकाइयाँ बनाने के स्थान पर सामूहिक व्यवस्था कई गुना लाभदायक है। सहकारी उद्योग, सम्मिलित व्यापार, सहकारी संस्थाएँ और सामूहिक क्षेत्रों की व्यवस्था जहाँ कहीं भी ठीक ढंग से की जा सकी है वहाँ उन्हें चमत्कृत कर देने वाली सफलता मिली है।

अपने समाज में, संयुक्त परिवारों के रूप में यह व्यवस्था परंपरागत ढंग से पहले ही विद्यमान है। किन्हीं कारणों से उनमें विकृतियाँ आ गई होंगी—उनका संशोधन असंभव नहीं है और न ही उसकी कोई बहुत बुरी प्रतिक्रिया दिखाई देती है। परंपरागत भारतीय परिवारों में उनके सदस्यों के बीच मतभेद होते हुए भी बड़े मजे से निर्वाह होता है। अनर्थ यह हो रहा है कि आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से अथवा बढ़ती हुई स्वार्थपरता के कारण संयुक्त परिवार टूट रहे हैं।

मनमानी करने की छूट नहीं मिलती और अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अपनी जरूरतों को सीमित रखना पड़ता है—इतनी भर असुविधा या तकलीफ संयुक्त परिवारों में होती है। यद्यपि आत्म विकास की दृष्टि से ये भी महान गुण हैं। पर इन्हें असुविधा ही मान लिया जाए तो भी संयुक्त परिवारों में हर तरह से लाभ ही लाभ और सुविधा ही सुविधा है। ये असुविधाएँ अड़चनें भी स्वयं केंद्रित मनोवृत्ति में ही होती हैं बदले में सहयोग, सद्भाव,

सुरक्षा और स्नेह-सौजन्य के जो अजस्त्र वरदान मिलते रहते हैं वे इस मूल्य पर बहुत सस्ते ही सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए सबके साथ रहने की उल्लासपूर्ण परिस्थितियों को ही लें। मनुष्य का स्वभाव है कि एकांत में रहना उसे पसंद नहीं आता। अन्य व्यक्तियों के बीच रहने पर उसे उल्लास की अनुभूति होती है और उसकी चिंताएँ—मानसिक व्यथाएँ कम होने लगती हैं। अनचाहे और अचीन्हे लोगों के बीच पहुँचकर भी अपनी चिंताएँ कम होने लगती हैं। फिर संयुक्त परिवारों में तो सब अपने ही आत्मीय, स्वजन और स्नेह लुटाने वाले घनिष्ठ परिजन रहते हैं। उनके सान्निध्य में तबियत लगी रहती है, चित्त प्रफुल्लित रहता है। बच्चों की मीठी तुतलाहट भरी बातें, उनसे मिलने वाली श्रद्धा और सम्मान, माँ का सुखद वात्सल्य, भाई-बहिनों का सौहार्द्र, पत्नी का प्रेम, सबका सहयोग कष्ट के समय उपलब्ध सुश्रुषा—जैसे विविध रुचिकर भावों का सजा सजाया थाल सामने रहता है, जिसका आस्वादन करते हुए हर घड़ी आनंद और उल्लास की रससिक्त मनःस्थिति बनी रहती है।

पत्नी के उकसाने पर ही अथवा अपना कोई पूर्वाग्रह किसी भी कारण से जो युवक दंपत्ति परिवार के साथ संबंध विच्छेद कर लेते हैं उन्हें इस रसास्वादन से वंचित ही रह जाना पड़ता है। इन सुखद परिणामों के अतिरिक्त आपत्ति से सुरक्षा की गारंटी भी एक ऐसी उपलब्धि है, जिसे किसी भी मूल्य पर प्राप्त नहीं किया जा सकता। सम्मिलित परिवार में उसके सदस्यों को आपत्ति से सुरक्षा की गारंटी सहज ही मिली रहती है। कभी कोई सदस्य बीमार पड़ जाता है तो इतने अधिक व्यक्ति सेवा सुश्रुषा के लिए प्रस्तुत रहते हैं और रुग्ण व्यक्ति को हाथों में लेते हैं। वृद्धावस्था आराम से कट जाने का संतोष रहता है। अपाहिज या अशक्त हो जाने पर भी इस आश्रय का विश्वास रहता है। मृत्यु हो जाने पर स्त्री-बच्चों का पालन-पोषण हो जाने की निश्चिंतता रहती है। पश्चिमी देशों में और अपने यहाँ भी जहाँ पृथक परिवार हैं विधवा स्त्रियों का जीवन बड़ा कष्टकर रहता है। उन्हें स्वयं घर के बाहर भटकते रहना पड़ता है अथवा दूसरों का

मोहताज बनना पड़ता है, जबकि संयुक्त परिवारों में उनके निर्वाह की समुचित व्यवस्था के आधार उपलब्ध रहते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि संयुक्त परिवार सब तरह से आदर्श हैं अथवा जहाँ भी संयुक्त परिवार हैं, वहाँ सुनिश्चित रूप से सुख शांति विद्यमान है। यह एक सुनिश्चित सत्य है कि व्यवस्था कोई भी क्यों न हो, जब तक पूर्णतया निर्दोष और सुलझी हुई नहीं होगी उसके सत्परिणाम प्राप्त नहीं किए जा सकते। संयुक्त परिवारों के साथ भी यही बात लागू होती है। उस परंपरा का निर्वाह करते हुए भी उसके व्यावहारिक पहलू को उपेक्षित ही किया जाता रहा तो अनेकानेक विकृतियाँ स्वभाविक ही उत्पन्न होंगी और उसके घटक सदस्य विघटन की बात सोचने लगेंगे।

संयुक्त परिवार एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें लौकिक लाभों के साथ-साथ आत्मिक हित भी सधते चलते हैं। इस व्यवस्था से होने वाले बहुपक्षीय स्थूल लाभों के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि उसके सदस्य अपने ही स्वार्थ को पूरा करते रहने की बात न सोचते रहें, वरन् उसके मूलभूत आदर्शों का भी निर्वाह करें। तभी संयुक्त परिवारों की स्थिति सुखद और उनका वातावरण उल्लासपूर्ण बन सकेगा। इस संबंध में यह मानकर चला जाना चाहिए कि संयुक्त परिवारों का प्रचलन जिस किसी भी युग में हुआ होगा, तब उस प्रयोगशाला में उच्च आध्यात्मिक गुणों के विकास को ही मुख्य महत्त्व दिया गया होगा। इसके बिना तो संयुक्त परिवार सुव्यवस्थित रूप से चल पाना जरा भी संभव नहीं है।

इस यथार्थपरक दृष्टिकोण को जहाँ भी अपनाया जाएगा—वहीं इस व्यवस्था के बहुपक्षीय लाभों के साथ-साथ अपना आत्मिक विकास भी होता चलेगा। कहा जा सकता है—कहीं और निर्जन या एकांत में की गई आत्मिक साधनाओं से अधिक वह साधना सहज होगी क्योंकि संयुक्त परिवार में रहते हुए कर्त्तव्यनिष्ठा, संयम, त्याग, निःस्वार्थ भाव और सेवा परायणता जैसे सद्गुणों का विकास करने की स्थितियाँ भी अनायास और सहज ही मिलने लगती हैं। माता पिता, बड़े भाई, सास-ननद, जिठानी देवरानी आदि के प्रति अपने

कर्त्तव्यों को बड़ी सरसता और जिम्मेदारी के साथ परिवार में रहकर ही निभाया जा सकता है। बड़ों का सत्कार, उनकी सेवा तभी संभव है—जबकि हम उनके साथ रहें और बड़े भी अपने अनुभवों का लाभ उसी दिशा में दे पाते हैं। अतः परिवार को अपना धर्म क्षेत्र-साधन क्षेत्र मानकर उसमें रहते हुए परिवार के विभिन्न सदस्यों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए।

परिवार एक उद्यान है। उसमें विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े पौधे लगे होते हैं। उस उद्यान की शोभा सुषमा इसी में है कि इसमें लगे पेड़-पौधे कटने बिलगने न पाएँ। माना कि संयुक्त परिवारों में कई त्रुटियाँ अथवा विकृतियाँ आ गई हैं। उसमें अनेक बुराइयाँ भी हैं और आलोचना की भाषा में कहा जाए तो उसकी हानियाँ भी हैं, किंतु वे त्रुटियाँ, बुराइयाँ और हानियाँ विघटित परिवारों में और भी ज्यादा बढ़ती, फैलती-फूलती रहती हैं। विवेक का तकाजा है कि जो बुराइयाँ आ गई हैं उन्हें दूर किया जाए न कि उस कारण से इतनी सुंदर व्यवस्था को चौपट ही कर दिया जाए। गुलाब के पौधे में काँटे भी होते हैं परंतु लोग उसके फूल ही चुनते हैं, काँटों को छोड़ देते हैं। संयुक्त परिवारों में भी वैसी ही कठिनाइयाँ संभावित हैं, काँटे छोड़कर फूल चुनने की समझदारी के समान उन कठिनाइयों से बचा भी जा सकता है।

'सम्मिलित रहें या पृथक हो जाएँ—जैसा प्रश्न जब भी कभी उठे तो अपना चिंतन इसी प्रकार यथार्थ पर आधारित रहना चाहिए। इस संबंध में किसी विचारक का यह प्रतिपादन बड़ा ही भाव भरा है—जिन बड़ों ने एक बालक को गोदी में खिलाया है और एक युग तक उसमें बड़ी-बड़ी आशाएँ रखी हैं, वह समर्थ होते ही केवल अपने सुख की व्यवस्था के लिए उनसे संबंध तोड़ लेता है। इससे बड़ी कृतघ्नता क्या होगी ?

यह सही है कि आज कोई बिरले परिवार ही शांति एवं सुव्यवस्थापूर्वक निर्वाह करते दिखाई देंगे। अधिकांश में असंतोष और मन मुटाव की आग जलती पाई जाएगी। हमारी परिवार संस्था

टूटती-फूटती नजर आ रही है। इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा।

इसका प्रमुख कारण है विभिन्न रूपों में परिवार की टूटती हुई मर्यादाएँ, परिवार को सँभालने वाले का गलत दृष्टिकोण, परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा अपने कर्त्तव्यों में अनिष्ठा। फलस्वरूप परिवार की शांति समाप्त हो चुकी है। कलह का साम्राज्य स्थापित हो चुका है। जब शांति ही नहीं तो सुख कैसे ? मनुष्य अपने आप में इतना अधिक भ्रष्ट, इतना स्वार्थी, इतना दुष्ट हो गया है, जो अपनी आत्मा की हत्या स्वयं कर रहा है।

वास्तव में स्वर्ग और नरक कोई भिन्न सत्ता नहीं। यह तो आत्मा के विस्तार और हत्या की बात है। ऐसी रामायण की चर्चा है कि एक बार उसके संबंध में जब अयोध्या से राजा जनक जी के दूत विशेष समाचार लेकर मिथिला, लौटे तो मिथिलावासियों ने बड़ी ही व्यग्रता से पूछा, कहो अयोध्यावासियों का क्या हाल है ? वहाँ के परिवारों में तुमने क्या विशेषता पाई ? दूत ने कहा वहाँ के परिवारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि घर-घर में स्वर्ग है।

इसका तात्पर्य यह है कि अयोध्या का पारिवारिक जीवन बड़ा ही आदर्श जीवन था। कहीं आपसी अंतर्द्वंद्व नहीं दिखाई देता था।

यदि हमारे पारिवारिक जीवन में भी भाई-भाई का प्रेम, पुरुषोत्तम राम के भाइयों की तरह स्थापित हुआ होता, तो हमारा परिवार क्यों छिन्न-भिन्न दिखलाई पड़ता ? बड़े भाई का त्याग छोटों के लिए किस तरह का हो ? राज्य संचालन एवं सुख-भोग की कामना को जिसने छोटे भाई के लिए ठुकरा दिया। भरत को जिसने माता की आज्ञा का बोध कराया। भरत जिसे बड़े भाई द्वारा राज्य संचालन का सहर्ष अधिकार दिया गया, उसने भी अधिकारी होते सुख-भोग को अपनी मुट्ठी में कसकर रख लिया।

वस्तुतः उस रामायण काल में गृहस्थ जीवन में इतना अधिक मर्यादा का पालन किया गया कि इसे राष्ट्रीय जीवन की सांस्कृतिक धरोहर कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं। इतना ही नहीं हमारे

पारिवारिक जीवन में स्वर्गीय सुखों का अवतरण किस प्रकार हो सकता है इसका ठोस आधार भी है।

यदि हमारा पारिवारिक जीवन कुछ न कर सके तो कम से कम उसके सभी पहलुओं को अपने जीवन का केंद्र बिंदु मानकर चलें तो उसमें स्वर्गीय आनंद का अवतरण कोई कठिन नहीं। हमें रामायण से जीवन के किस पहलू की प्रेरणा नहीं मिलती ?

परिवार में एक-दूसरे के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य होना चाहिए ? छोटों के प्रति बड़ों का क्या उत्तरदायित्व होता है ? बड़े अपने से छोटों के प्रति किस तरह निष्पक्ष रूप से व्यवहार और निर्णय करें ? आपसी न्याय का प्रतिपादन किस प्रकार किया जाए ? पारिवारिक जीवन में सद्भावना का क्या स्थान है और ऐसे महत्त्वपूर्ण पहलू हैं, जिनका अनुपालन परिवार में होने लग जाए तो सुख और शांति की आनंदानुभूति सबको होने लग जाए।

परिवार के सदस्यों के बीच अपनेपन का विशेष अनुभव होना परिवार के टिकाऊपन का सर्वश्रेष्ठ गुण है। जब अपनों में अपनेपन का भाव समाप्त हो जाता है, तभी आपसी प्रेम के टुकड़े होने लगते हैं। स्वार्थपरता आने लगती है। अतः अपने अंतर में अपनत्व की भावना पैदा करनी पड़ेगी। अपनत्व की भावना ही भेद-भाव को जीवन से दूर भगा देती है। परंतु विचारों में भेद-भाव की उत्पत्ति से न जाने परिवार की कितनी बुरी दशा होती है ? भेद भावना पारिवारिक जीवन की एक ऐसी चिनगारी है, जो भीतर ही भीतर जलती रहती है। प्रेम के अंकुर इसमें पनप ही नहीं सकते। आज परिवारों की ऐसी ही विषम स्थिति है।

माता के हृदय में अपने छोटे बालकों के प्रति कितनी उदारता की भावना रहती है कि बच्चों के लालन-पालन में स्वयं भूखे रहकर भी उसकी भूख की चिंता रखा करती है। अपने सिर पर हर तरह के बोझ उठा लेती है लेकिन बच्चे को किसी प्रकार का कष्ट न हो यह बराबर ध्यान रखती है। कितना बड़ा त्याग उसके जीवन में रहता है ? सचमुच माता त्याग की साक्षात् प्रतिमा है। ऐसा ही त्याग करने की भावना, घर के हर समझदार व्यक्ति के हृदय में आ जाए

तो कलह-विग्रह के परिताप से बचा जा सकता है। कलह-विग्रह से परिवार की शांति भंग हो जाती है। यह तो परिवार का बहुत बड़ा दुर्भाग्य है।

भावना हृदय की आंतरिक वस्तु है। यदि हम झूठे भाव से अपने पारिवारिक सदस्यों के बीच अपनत्व, उदारता और त्याग का भाव प्रदर्शन करना चाहेंगे तो कभी न कभी इसकी सत्यता परिलक्षित हो ही जाएगी। तब अन्य सदस्यों का दृष्टिकोण हमारे प्रति कितना गलत हो जाएगा ? लोग शंकालु हो जाएँगे। हमारे प्रति अश्रद्धालु हो जाएँगे। इस मर्यादा का पालन आंतरिक गुण है कि हम परिवार में श्रद्धा के पात्र समझे जाएँ। यह प्रदर्शन की वस्तु नहीं भावना की वस्तु है।

गलती करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। यदि जाने-अनजाने हमसे किसी प्रकार की गलती हो जाती है, जिसका आभास हमें नहीं हो रहा हो ऐसी गलती को स्वीकार कर लेना चाहिए। अपनी गलती को स्वीकार कर लेने वाला व्यक्ति जीवन में पुनः गलती करने से सावधान रहता है। इसके लिए आवश्यक है कि अपने यहाँ पारिवारिक गोष्ठी की व्यवस्था आवश्यक बना ली जाए।

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी आती है कि अपने परिवार में एक-दूसरे के प्रति आदर की भावना बनाए रखें। चाहे कोई छोटा बच्चा ही क्यों न हो उसके प्रति भी आदर की भावना होनी चाहिए। बच्चों का इस से मनोबल बढ़ता है। उपेक्षित बालक कभी प्रभावशाली नहीं बन सकता। यह बात जरूरी है कि बच्चे भी बड़ों का आदर करना जानें। इसकी जानकारी उन्हें होनी चाहिए। इससे हमारे परिवार की मर्यादा बढ़ती है।

अभिभावक की उदात्त भावना उसकी उत्कृष्टता का परिचायक है। उसके अंदर कभी ऐसी भावना की उपज नहीं होनी चाहिए जो अहंकार पैदा कर दे। अहंकार मनुष्य के व्यक्तित्व को गिरा देता है। यह सोचकर अभिभावक को यह नहीं मानना चाहिए कि मैं ही पूरे परिवार का पालन करता हूँ। बल्कि ऐसा सोचना चाहिए कि मैं तो एक माध्यम मात्र हूँ। पालनकर्त्ता तो परमपिता परमात्मा है। पालन

करने की शक्ति वही प्रदान करते हैं। बच्चों के जीवन में इसका अद्भुत प्रभाव पड़ता है। वह भी उदार और नम्र स्वभाव का बन जाता है।

मनुष्य की प्रकृति बराबर स्वतंत्र रहने की होती है। स्वतंत्रता उसका जन्म सिद्ध अधिकार है। व्यक्तिगत स्वतंत्र विचारधारा पर परिवार में किसी के द्वारा आक्षेप नहीं होना चाहिए। लेकिन यह ध्यान रखा जाना आवश्यक होगा कि उस विचारधारा से पारिवारिक शांति में कोई व्यवधान तो नहीं हो रहा है। उस विचारधारा से प्रभावित होकर कोई अपनी नैतिकता तो नहीं खो रहा। वह विचारधारा सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त तो नहीं कर रही है। यदि ऐसी विचारधारा है तब तो इसका विरोध और इसकी आलोचना उस व्यक्ति के समक्ष करनी ही चाहिए। उसे उपयुक्त सुझावों से आकृष्ट कर सही रास्ता दिखलाना चाहिए। हाँ यदि किसी परिवार में रूढ़िगत परंपरा का प्रचलन है, जिसको मानकर चलने में किसी को आपत्ति है तो इसके लिए किसी को लाचार भी नहीं करना चाहिए। एक-दूसरे के प्रति हमारा फर्ज हो जाता है कि हम एक-दूसरे की रुचियों को अपने हृदय में स्थान दें। इस तरह परिवार में एक स्वाभाविकता बनी रहेगी और सारा परिवार सुख-शांति की गोद में अपार आनंद का अनुभव करेगा।

व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने की परंपरा का प्रस्फुटन तभी होगा जब हम अपने-अपने परिवार को उत्कृष्ट बनाने की प्रक्रियाओं और विशेषताओं को धारण करेंगे। वे विशेषताएँ जो प्राचीन काल की पारिवारिक आदर्श व्यवस्था में थीं, जिनके आधार पर परिवार का पारस्परिक प्रेम अक्षुण्ण रहता है। हमें अपनानी ही पड़ेगी।

संयुक्त परिवार प्रणाली न केवल प्राचीनकाल में पुराने समय में उपयोगी थी वरन् आज भी उतनी ही उपयोगी है। जिन परिवारों के वयस्क सदस्य नौकरी पेशा होने के कारण अलग स्थानों पर चले जाते हैं, उनकी बात और है। पर ऐसे परिवारों की संख्या नगण्य-सी है। थोड़े-बहुत लोग ही नौकरियों में लगे हुए हैं, जिनका प्रतिशत ३-४ से अधिक न होगा। संयुक्त परिवार के टूटने का एक कारण यह माना

जाए तो उचित न होगा। संयुक्त परिवारों के टूटने के कारण और हैं। एक ही गाँव में पुत्र अपने पत्नी-बच्चों के साथ, माता-पिता के साथ एक घर में नहीं रहना चाहता। शादी होते ही माँ-बाप अपने बेटों को अलग करने की सोचते हैं या बेटे-बहू स्वयं इसकी भूमिका बनाते हैं।

विवाहित पुत्र माता-पिता से अलग जाकर रहने लगे, यह उस समय तो लोगों को लाभप्रद दीखता है। पुत्र और बहू सोचते हैं कि अपनी कमाई में खुद ही ऐशोआराम से रहा जाए माँ-बाप को उसका हिस्सा क्यों दिया जाए ? माँ-बाप को अपने पुत्र के अलग हो जाने का क्षोभ तो होता है पर वे आजकल के जमाने का चलन मानकर संतोष कर लेते हैं। आमदनी और उसके एकाकी उपयोग का पक्ष दीखता तो बड़ा सुहाना है, पर अलग घर बसाने में जितनी परेशानियों का सामना करना पड़ता है, उनकी कोई गिनती नहीं। पहले तो इसका ध्यान ही नहीं रहता, पर जब परेशानियाँ सामने आकर खड़ी हो जाती हैं, तब याद आता है कि इस समय घर का कोई व्यक्ति हमारे साथ रहा होता तो कितना अच्छा था ? बाहर जाने पर बच्चों की देख-रेख से लेकर रोग-बीमारी तक में इस प्रकार की गुत्थियाँ सामने आ खड़ी होती हैं।

जो लोग संयुक्त परिवार में रहते हैं वे भाग्यशाली हैं। पर समस्याएँ वहाँ भी उत्पन्न होती हैं और वे समस्याएँ इतनी विकट हैं कि उनके रहते लगता है—इससे तो अलग घर बसा लिया जाता वही अच्छा था। इन समस्याओं में मुख्य है—पारिवारिक जीवन में आने वाली क्लेशपूर्ण परिस्थितियाँ। संयुक्त परिवारों के टूटने का कारण जहाँ अधिकतम सुख-सुविधाएँ उठाने का आकर्षण है वहीं परिवारों में होने वाले, क्लेश कलह भी हैं। बल्कि मुख्य कारण तो यही नजर आता है कि पुरानी पीढ़ी यानी कि माता-पिता और नई पीढ़ी पुत्र तथा बहू आपस में सामंजस्य नहीं बिठा पाते।

पुरानी और नई पीढ़ी के द्वंद्व ने बढ़ते-बढ़ते सामाजिक रूप धारण कर लिया है। इसकी शुरूआत परिवार से हुई है। जिस दिन लड़के की शादी होकर बहू घर आती है उस दिन से माँ-बाप अपने बेटे को परिपक्व दृष्टि से देखने लगते हैं। तब तक उनकी दृष्टि में

लड़का बच्चा सा था, पर अब बहू ले आया है तो वह संसारी व्यक्ति हो चुका है और उसे संसारी व्यक्ति की तरह रहना चाहिए। माता-पिता के निर्देश भी उसे इसी रूप में मिलने लगते हैं।

सारी भूल माता-पिता से ही होती हो यह भी बात नहीं है। नई-नई पत्नी पाकर युवक उसकी ओर आवश्यकता से अधिक ही आकर्षण अनुभव करते हैं। अब तक उनके जीवन में जो यौन-प्रतिबंध थे, काम पर जो नियंत्रण था जैसे वह प्रतिबंध किसी न किसी के लिए टूट गया हो और नियंत्रण समाप्त हो गया हो। उसे अपनी भावनाओं का खुलकर खेलने देने का अवसर-सा मिल गया हो। नव-विवाहितों में आश्चर्यजनक परस्पर आकर्षण का यह प्रमुख कारण है। लेकिन इस दृष्टिकोण को उचित नहीं कहा जा सकता। होना तो यह चाहिए कि अब तक जिस यौन भावना को नियंत्रित रखा गया है, उसे संयमित दृष्टि से ही खुलने दिया जाए। अन्यथा बाँध का रुका हुआ पानी जिस प्रकार एकदम छूटने से अनर्थ उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यहाँ भी अनियंत्रित प्रवाह अनर्थकारी परिणाम ही देता है। कई सद्यः विवाहित युवकों में **'कामातुरणां न भयं न लज्जा'** वाली उक्ति चरितार्थ होती है और उस समय दिया गया कोई सत्परामर्श भी अखरने लगता है।

उधर पत्नी की तरफ अधिक आकर्षित होते देखकर माँ यह समझती है कि उसका बेटा हाथ से निकला जा रहा है। कल तक जो बेटा माँ की गोदी में 'माँ-माँ' कहता हुआ आकर सिर रखकर लेट जाता था, वह दूसरे घर से आई लड़की के प्रेमपाश में आबद्ध होकर माँ की ओर ध्यान देना भी नहीं चाहता। माँ का रवैया इसी महत्त्वपूर्ण बिंदु पर चिंतन करते-करते बहकने लगता है और यह दूसरे घर से आई लड़की की मान्यता इतने प्रबल रूप में अपनी जड़ें जमा लेती है कि वह 'बहू' को कभी भी अपनी बेटी की तरह नहीं मान सकती।

सास-बहू के पारिवारिक झगड़ों का अधिकांश कारण यह असंतुलित दृष्टि ही है। कदाचित माताएँ बहू को अपनी बेटी की तरह समझकर उससे आत्मीय व्यवहार करने लगें। दोष अकेली माँ के

मत्थे भी नहीं मढ़ा जाना चाहिए। कोई युवती जब अपने परिवार को, भाई-बहनों को, सगे माता-पिता को छोड़कर अपनी ससुराल आती है तो यह आशा की जानी चाहिए कि वह अपने पति के परिवार वालों को भी अपने घर के लोगों की तरह ही माने, पर होता यह है कि एक तो बदला हुआ वातावरण, दूसरे मायके में दी गई शिक्षाएँ और अपनी सहेलियों से मिले निर्देश तथा अनुभव उसे अजनबी परिवार के प्रति रूखा बना देती हैं। साथ रहते-रहते समझदार सास-बहू अपने संबंध अच्छे बना लें, यह बात और है, अन्यथा जिन घरों में सास-बहू के बीच हमेशा द्वंद्व चला करता है वहाँ डोरी शुरू से खिंचने लगती है।

बहू उस समय अपने पति पर अपना अधिकार करने के लिए प्रयत्नशील रहती है तो माँ अपने बेटे को हाथ से निकलने न देने के लिए सजग और पति तथा पुत्र को लेकर, अन्य कारणों की आड़ में संघर्ष शुरू होता है। जिन घरों में ऐसा नहीं होता वहाँ भी दूसरी तरह से द्वंद्व चलने लगता है। यदि सास बहू को अपनी बेटी मान भी ले तो वह अपेक्षा करती है कि बहू बेटी की तरह ही उसकी आज्ञाकारिणी हो। इस तरह की आज्ञाएँ बहुत कुछ यह समझ कर दी जाती हैं जैसे बहू एकदम नासमझ या बच्ची हो। यह ठीक है कि बहु की अपेक्षा सास अधिक अनुभवी और दूरदृष्टि संपन्न होती है, पर इसका अर्थ यह तो होता नहीं कि बहू का मस्तिष्क एकदम कोरा कागज ही है जिस पर समझ या सूझबूझ का एक भी अक्षर नहीं लिखा हुआ है।

सास की आज्ञाओं और निर्देशों में बहू अपनी उपेक्षा या अवमूल्यन समझने लगती है, क्योंकि सास के सामने उसकी योग्यता और क्षमता नगण्य हो जाती है। वह न अपने मन का कोई काम कर सकती है और न उसे इसकी छूट ही अनुभव होती है तो वह यह मानने लगती है कि सास उसे अपने हाथ का यंत्र भर बनाकर रखना चाहती है। मनमुटाव की ग्रंथियाँ यहीं से बनाना शुरू होती हैं।

किन्हीं-किन्हीं घरों में सास-बहू का संघर्ष आमने-सामने होने लगता है। ऐसा उन घरों में होता है, जहाँ सास और बहू वैचारिक

तथा मानसिक दृष्टि से एक ही धरातल पर रह रही हों। अन्यथा यह संघर्ष शीतयुद्ध के रूप में भी चलता है। माँ अपने बेटे को अपनी ओर खींचती है तथा बहू अपने पति के कान अलग भरती है। कुल मिलाकर ऐसी दशा में पुरुष की स्थिति बड़ी विचित्र हो जाती है। पति तटस्थ रहता है तो भी उस पर दोनों ओर से प्रहार होता है तथा किसी का पक्ष भी लेता है तो दूसरा पक्ष उसको अपने हाथ से बाहर निकल गया समझता है! माँ का पक्ष लेने वालों की संख्या कम है, अधिकांश पति-पत्नी की ओर ही झुकते हैं।

पत्नी की ओर झुकने का भी कारण है। एक तो पति, पत्नी से अधिक प्रभावित रहता है, क्योंकि विवाह के बाद उसी का संपर्क सान्निध्य बड़ा रसमय लगता है और दूसरे विवाह के बाद माता-पिता द्वारा अपनाए गए रवैयों के कारण उनमें ही अधिक दोष देखने लगता है।

जो भी हो पारिवारिक क्लेश के कारण परिवार टूटे या बना रहे, दोनों ही परिणाम अच्छे नहीं कहे जा सकते। विवेकशीलता और पारिवारिक सद्‌भाव बनाए रखने के लिए उन गुत्थियों को समझ-बूझ के साथ सुलझाया जाना चाहिए जो उसे तोड़ देती हैं या चटखा देती हैं। इन समस्याओं का समाधान किए बिना एक परिवार में सुख-शांति का वातावरण बनाए रखना असंभव है।

संयुक्त परिवार को एक सहकारी समिति मानकर इस प्रकार गठित किया जाना चाहिए कि हर किसी को अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए स्वेच्छापूर्वक विवश होना पड़े। एक-दूसरे के लिए असीम प्यार रखें और अपनी अपेक्षा अन्यों की सुविधा को प्राथमिकता देते रहें। आवेश और कटुता दुर्भाव और तिरस्कार, आलस्य और अकर्मण्यता, अहंकार और दबाव की क्षुद्रताएँ आदि निरस्त की जा सकें, तो बिखरते परिवारों को पुनः संयुक्त रहने के लिए सहमत किया जा सकता है। सुव्यवस्थित आचार संहिता पर निर्धारित हमारी संयुक्त परिवार प्रणाली अपने देश के लिए तो उपयोगी सिद्ध है ही, साथ ही समस्त संसार को भी इस परंपरा को अपनाने के लिए आकर्षित करेगी। पर यह संभव तभी है, जब शालीनता और

सज्जनता को बनाए रखा जाए और उसके विकास का निरंतर ध्यान रहे।

अपनत्व के अभाव में सम्मिलित परिवार का लाभ तो सब उठाना चाहते हैं, दायित्व कोई नहीं सँभालना चाहता। देखा-देखी इतनी बढ़ जाती है कि किसी काम को न करने के कारण पूरे परिवार को हानि होने वाली हो तो भी सब एक-दूसरे की ओर ताकते रहते हैं। शक्ति नष्ट होती रहती है, पर उसका उत्पादक प्रयोग नहीं हो पाता। एक-दूसरे से छिपाकर पैसों और वस्तुओं की चोरी भी की जाती है। कई सम्मिलित कृषक-परिवारों में परिवार के सदस्य ही खेत से बीज चुरा लेते हैं। अन्न आँगन में बिखरा रहता है। कई किलो अनाज भोजन की जूठन के रूप में फेंका जाता है, जबकि अलग हो जाने के बाद न तो आँगन में इस तरह एक भी कण बिखरा दीखेगा और न कभी जूठन के रूप में अन्न को फेंका जाएगा।

संयुक्त परिवार में जहाँ आत्मघाती प्रवृत्तियाँ पनपें, आलस्य, अकर्मण्यता, प्रमाद, चोरी, झूठ, छल-कपट, शक्ति की बरबादी, दुर्व्यसन, अपव्यय आदि की वृद्धि होती रहे, वहाँ कलह, द्वेष, संताप, उद्विग्नता और पश्चात्ताप के सिवाय और किस बात की उम्मीद की जा सकती है ?

ऐसे विक्षोभ और हताशा के विषाक्त वातावरण में हर व्यक्ति अपने भविष्य की चिंता से त्रस्त रहता है। असुरक्षा और आशंका से वह भयभीत, बेचैन और परेशान रहता है। ऐसी मनःस्थिति निश्चय ही व्यक्ति को क्रमशः जिद्दी, चिड़चिड़ा, आलसी, संदेहशील, चिंताग्रस्त और कायर बनाती जाती है। स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, नींद उड़ जाती है, मानसिक शांति दुर्लभ हो जाती है।

इस वातावरण में पनपने वाले बच्चों के सुकुमार मन पर इसका अत्यंत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। दिन-रात की चख-चख, हल्ला-गुल्ला, झूठ, घृणा, अविश्वास, संदेह, दुराव का वातावरण उन्हें हीन विचार और निम्नगामी प्रवृत्तियों के सिवाय और क्या दे सकता है ? संघर्ष यदि स्पष्ट और सदुद्देश्य प्रेरित होता है, तो वह शक्ति देता है। पर सामने जिन्हें अपना बताना, जिनसे सहयोग, सद्‌भाव, आत्मीयता,

अपनत्व का प्रदर्शन करना, उन्हीं के विरुद्ध पीछे-पीछे जहर उगलना तथा घात लगाना, दाँव-पेंच, गढ़ना-नोंचना, झूठ और पाखंड का ही पाठ पढ़ाता है।

ऐसा सम्मिलित परिवारों के वयस्क अपने झूठ और पाखंड में नन्हें बच्चों का जमकर उपयोग करते हैं। घर की सम्मिलित वस्तुओं को चुराने और चोरी-छिपे बेचने में विशेषकर माताओं द्वारा लड़कियों की सहायता ली जाती है। स्पष्ट है कि यह लड़कियाँ चोरी में प्रवीण, संदेहशील, झगड़ालू और ईर्ष्या-डाह से भरी बनती जाती हैं। गृहिणी बनने पर इनका क्या स्वरूप होगा, यह अभी से स्पष्ट एवं निश्चित हो जाता है।

वृद्धों की तो कलहपूर्ण सम्मिलित परिवारों में सर्वाधिक दुर्गति होती है। माता-पिता और सयानों के प्रति भारतीय संयुक्त परिवारों में जो आदर का भाव रहता था, वह शायद ही कहीं देखने को मिल पाता है। सामान्यतः अब उन्हें अनादर, उपेक्षा, असम्मान, अवमानना, कटुक्तियों और तिरस्कार का ही सामना करना पड़ता है। बेचारे वृद्ध माता-पिता चाहते हैं कि हमारे जीते-जी तो बटवारे की नौबत न ही आए। पर यह नेक इच्छा उन्हें बहुत महँगी पड़ती है। वे सदा सबको प्रसन्न रखने के प्रयास में सबके उलाहने सुनते हैं, दुर्व्यवहार सहते हैं, हलाहल को नीलकंठ की तरह स्वयं पीते रहते हैं, कटुक्तियाँ चुपचाप झेलते हैं, कई कमजोरियों को मौन-पीड़ा के साथ देखते, संतुलन का प्रयास करते रहते हैं, छिपकर कर्ज लेने और सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति की यथासंभव चेष्टा करते रहते हैं, अपने खाने-पीने तक की स्वयं चिंता नहीं रखते, दूसरों को उनकी ओर ध्यान देने की फुरसत ही कहाँ ?

यदि बँटवारा हो जाए, तो भी इनकी दुर्दशा ही बढ़ती है। अपनी-अपनी रसोई सब बाँट लेते हैं। बुड्ढे-बुढ़िया को दो रोटियाँ भी आदर के साथ देने का किसी को समय नहीं मिलता।

यह तो उन वृद्धों की बात हुई, जो शालीन, संतुलित और नेक हैं। पर ऐसे भी बड़े-बूढ़े कम नहीं, जो असमानता के व्यवहार से वातावरण को विषाक्त बनाते हैं। परिवार में असमानता का आशय यह

है कि एक कोटि के व्यक्तियों के बीच समान व्यवहार न करना। किसी का पक्षपात और किसी की उपेक्षा करना। बहुत बार माता-पिता ऐसा करने की भूल कर बैठते हैं कि बाजार से कोई चीज लाते हैं तो केवल अपने बच्चों में बाँट देते हैं और दूसरे बच्चे देखते रह जाते हैं और यदि उन्हें देते भी हैं तो अपने बच्चों से कम। माताएँ नाश्ता देते समय अपने बच्चों को ज्यादा और दूसरे के बच्चों को कम देती हैं। बहुत बार तो वे चीजें छिपाकर रख लेती हैं और आँखें बचाकर अपने बच्चों को चोरी से खिला देती हैं। ऐसा करना सर्वथा अनुचित है। सबके साथ समानता का व्यवहार किया जाना चाहिए। ऐसा न करने से विषमता बढ़ती है और परिवार में फूट पड़ती है, आपस में तनाव तथा कहासुनी हो जाती है।

परिवार का एक सम्मिलित कोष होना चाहिए, जिसमें सबको अपनी कमाई यह सोचकर जमा कर देनी चाहिए कि मैं जो कुछ कमाता हूँ, अपने लिए नहीं—पूरे परिवार के लिए कमाता हूँ। मेरी सारी आय—परिवार की आय है, उस पर मेरा कोई व्यक्तिगत अधिकार नहीं है। इस उदार भावना से न तो किसी में अहं भाव आएगा और न पारिवारिक व्यय की समानता पर क्षोभ होगा। बल्कि अपने आप में गौरव का ही भाव उभरेगा कि मैं अपने परिवार के लिए अधिक उपयोगी हो रहा हूँ। असमान कमाई पर भी समान साधन-सुविधाओं के अधिकार पर संतुष्ट रहना परिवार की एकता तथा सद्‌भाव बनाए रहने का एक सफल मंत्र है, इसका उपयोग किया ही जाना चाहिए।

गृह-क्लेश के कारण क्या होते हैं, इस पर विचार किया जाए तो यही निष्कर्ष सामने आता है कि बहुत छोटी-छोटी बातों को तूल देने वाला छिछोरा अहं—तालमेल न बैठा सकने की हेकड़ी, भावनात्मक असंतुलन एवं पारस्परिक अविश्वास ही इसके मूल में होते हैं और इसका परिणाम घर को नरक बना डालने के रूप में सामने आता है।

शिक्षा के वर्तमान रूप का जब अधिक विस्तार नहीं हुआ था, तब यह माना जाता था कि अशिक्षा ही गृह-कलह का कारण है।

यद्यपि हमारे देश में शिक्षा का औसत अभी भी बहुत कम है, तो भी पहले की तुलना में शिक्षितों की संख्या पर्याप्त हो गई है और इन शिक्षितों से तो उसका प्रभाव-परिणाम, पारस्परिक सामंजस्य, संतुलन, माधुर्य और शांतिपूर्ण घरेलू वातावरण के रूप में सामने आना था, परंतु देखा विपरीत ही जा रहा है। शिक्षित पति-पत्नियों में आपसी मनमुटाव कुछ कम नहीं है और परिवार के अन्य सदस्यों से तो उसका तालमेल न बैठना सामान्य बात होकर रह गई है।

गृह-कलह धनियों में भी पाया जाता है, गरीबों में भी। सुशिक्षितों के बीच भी, अशिक्षितों के बीच भी। शरीर से तगड़े लोगों में भी आपसी घरेलू विवाद देखा जाता है और दुबले-पतलों में भी। इससे यह स्पष्ट होता है कि घर की शांति, सामंजस्य और सद्‌भाव, स्वास्थ्य, शिक्षा या संपन्नता पर ही पूरी तरह निर्भर नहीं करते। सफल सद्‌गृहस्थ भी सभी वर्गों—धनी, गरीब, मोटे, दुबले, शिक्षित-अशिक्षित आदि सभी में पाए जाते हैं। देखा यह जाता है कि एक परिवार में तो शिक्षा आपसी समझदारी और संतुलन तथा उदारता का आधार बनती है, दूसरे में वही बाल की खाल उधेड़ने वाली बौद्धिक खींचातानी तथा छोटी बात को 'फील' करने, यानी गहराई तक उसकी प्रतिक्रिया होने का आधार प्रस्तुत कर देती है। समुचित धन एक परिवार को नमक, तेल, लकड़ी की दिनों-दिन चिंताओं से मुक्त कर, उन्हें स्वाध्याय, पर्यटन, अनुभव-विस्तार तथा समाज सेवा में सक्रिय रहने की प्रेरणा देता है, तो उतना ही धन किसी परिवार में मौज-मजा, दुर्व्यसन अलगाव और दुराव का कारण बन जाता है। अच्छा स्वास्थ्य स्वाभाविक उत्सुकता और गतिशीलता से किसी परिवार में हर्ष-विनोद का वातावरण बनाए रखने का आधार बनता है तो अन्यत्र वही असंयमित देहावेग और उससे उत्पन्न निष्ठाहीनता, तनाव तथा संघर्ष का रूप ले लेता है।

पारिवारिक आनंद के लिए अपेक्षित गुण मुख्यतः जीवन-दृष्टि संबंधी हैं। सबसे पहला विचारणीय तथ्य यही है कि जीवन के बारे में सत्ता को एक प्रकाश किरण माना है या पानी का बुलबुला मात्र। जो जीवन के प्रति नास्तिक भाव रखते हैं, उनमें भी पारस्परिक

संतुलन संभव तो है, परंतु यह संतुलन किसी बड़े स्वार्थ के सामने कभी भी टूट सकता है। जब कि जीवन को दिव्य चेतना का अंश मानने वाले लोग किसी भौतिक उपलब्धि के लिए अपनी निष्ठाएँ नहीं बदल सकते।

जीवन-दृष्टि से ही जुड़ी एक अन्य बात यह है कि जीवन की सार्थकता किसी क्रिया या क्षेत्र विशेष में मानी जा रही है अथवा जीवन की विविधताओं को स्वीकार कर चला जा रहा है। ऐसे व्यक्ति जिन्हें अपने किसी गुण—विशेष में ही जीवन का निचोड़ नजर आता है, फिर वह लेखन हो, संगीत हो, सौंदर्य हो, नृत्य हो, कला हो या कुछ और हो तथा साथ ही अपने इस गुण के सामने जो और किसी की कुछ नहीं सुनते, वे इस गुण विशेष में चाहे बहुत आगे बढ़ जाएँ, परंतु समाज एवं परिवार में वे अपने छोटे-छोटे आग्रहों की पूर्ति के लिए विक्षोभ-विच्छेद, कलह कटुता पैदा करने में हिचकते नहीं। जहाँ दूसरों की अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत आवश्यकताएँ भी अपने मामूली स्वार्थ, शोक या भावतरंग के सामने हेय मानने की प्रवृत्ति हो वहाँ पारस्परिक सद्भाव कैसे टिक सकता है ?

जहाँ संकीर्ण स्वार्थपरता रहती है, वहाँ अविश्वास अवश्य होता है। अविश्वास भी एक प्रकार की नास्तिकता ही है, क्योंकि यह मानना कि मैं स्वयं तो किसी भी स्थिति में गलती नहीं कर सकता और दूसरा गलतियों से बच नहीं सकता ताकि एक बार भूल करने के बाद फिर उसे सुधार नहीं सकता, इससे उनके बीच की दूरी बढ़ती जाती है।

पारिवारिक जीवन में ऐसे अवसर आते ही रहते हैं, जब एक दूसरे के बारे में संदेह पनप जाने की स्थिति आ खड़ी होती है। यदि आपस में विश्वास रहे तो यह संदेह निःसंकोच भाव से पूछकर जाँचा परखा जा सकता है। ऐसा न करने पर भीतर ही भीतर पनपता, फैलता, संदेह घृणा-विद्वेष का विषवृक्ष बनकर प्रकट होता तथा विग्रह, विरोध एवं विलगाव के फल देता है।

खाई बढ़ने का एक अन्य कारण यह है कि अपनी ही धुन में मस्त रहकर दूसरे की जरूरतों और भावनाओं की उपेक्षा की जाती

है। यह उपेक्षा स्पष्टतः क्षुद्रता का परिणाम होती है। यहाँ तक देखा जाता है कि बाहर के अपने मित्रों, परिचितों की हारी-बीमारी, प्रसन्नता-हताशा की एक-एक घटना में रुचि दिखाने वाले लोग अपने परिवार के दूसरे सदस्य को बीमारी, परेशानी या समस्या पर सिर्फ नाक-भौं सिकोड़ते हैं, सहानुभूति-सहयोग की कभी जरूरत ही नहीं समझते।

उपेक्षा, अविश्वास, स्वार्थपरता, अहमन्यता और संदेह ये सभी दोष जीवन-दृष्टि से संबंधित हैं। जहाँ उदारता, सदाशयता, समानता और सहानुभूति की भावना तथा विचार होगा, वहाँ ये परिस्थितियाँ टिक नहीं सकतीं। इसीलिए सुखी परिवार के लिए बाहरी व्यवहार के सूत्र ढूँढ़ने और उन पर यांत्रिक ढंग से अमल करने से काम चलने का नहीं।

'मेनर्स और टेक्नीक' का अपना महत्त्व है। शिष्टता-भद्रता के तौर-तरीके आकर्षक एवं प्रसन्नतादायक होते हैं। लेकिन मात्र उतने से परिवार में आपसी सौमनस्य स्थापित नहीं हो जाता। जहाँ स्वार्थों की आपसी टकराहट नहीं है, अधिक अवधि तक साथ रहना नहीं है, वहाँ सभा-सोसायटी, एवं भीड़-भाड़ में अथवा प्रारंभिक परिचय में तो शिष्टता के तौर-तरीके भाते हैं एवं प्रभावित करते हैं। लेकिन इनका असर तात्कालिक ही होता है स्थायी नहीं रह पाता। यदि सामने वाले के प्रति मन में अनादर-अविश्वास आ जाए, तो वही शिष्टता आडंबर प्रतीत होने लगती है। परिवार के सदस्यों को एक-दूसरे के व्यवहार देखने-परखने का भी भरपूर अवसर मिलता ही है, अपने प्रति अमुक सदस्य के मनोभाव क्या हैं, यह भी हर एक को ज्ञात होता रहता है। इसलिए वहाँ शिष्टता एवं व्यवस्था संबंधी नियमों-उपनियमों के निर्वाह भर से बात नहीं बन सकती। इन सबसे ऊपर, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है भावनात्मक श्रेष्ठता और सच्ची आत्मीयता।

यह आत्मीयता जीवन-दृष्टि का परिणाम है, जहाँ मात्र भौतिक सुख-सुविधाएँ ही जीवन की वास्तविक उपलब्धियाँ मानी जाएँगी। वहाँ सीमित साधनों के कारण परस्पर एक-दूसरे को प्रतिस्पर्धा मानकर चला जाएगा। प्रतिस्पर्धा का भाव-साधनों की प्रचुरता से मिटने वाला

नहीं, क्योंकि तब प्रत्येक की सुखोपभोग की इच्छा भी उसी अनुपात में फैलती-बढ़ती जाएगी। प्रतिस्पर्धा का भाव न रहा तो उदासीनता का भाव आ सकता है, क्योंकि मन की आसक्ति तो अपने लिए सुख-सुविधा जुटाने की दिशा में रहेगी। दूसरों की अपने जैसी ही चिंता करने का अवकाश कहाँ रहेगा ? हाँ, अपनी किसी ने तनिक भी उपेक्षा की तो जरूर माथा गरम होने लगेगा।

प्रतिस्पर्धा के नाम पर आत्मीयता का, भावनात्मक एकरूपता का भाव सही जीवन-दृष्टि द्वारा ही आता है और बना रहता है। यह आत्मीयता रही तो तौर-तरीकों में कभी चूक भी हो गई, तब भी तनाव बढ़ेगा नहीं।

शिष्टाचार एवं व्यवस्था के नियमोपनियमों की तकनीक बाह्य कलेवर है। आवश्यकता वह भी है। पारिवारिक स्वरूप उसी आधार पर सुंदर बनता है किंतु आत्मीयता, एकरूपता की जीवन-दृष्टि तो परिवार का प्राण है। उसके बिना पारिवारिक भावना जीवित ही नहीं रह सकती। अतः सर्वोपरि आवश्यकता परिवार के आधारभूत दर्शन को, सघन आत्मीयता को, प्रखर अनुभूति के स्वरूप को है, जहाँ ऐसा होता है वहाँ गृह-कलह कभी भी पनपता नहीं। जहाँ इसका अभाव होता है, वहाँ पारिवारिक शांति कभी टिक नहीं पाती। जहाँ संयुक्त उत्तरदायित्वों का अनुभव करने, निभाने और सच्ची साझेदारी की भावना से काम करने की प्रवृत्तियाँ प्रबल होंगी, वहाँ विघटन असंभव है।

❐ ❐

पारिवारिक स्नेह-संबंध क्या टूट ही जाएँगे ?

कुटुंब एक प्रकार से मनुष्य का सामाजिक शरीर ही है। जैसे शरीर के एक भाग को सुखी और समुन्नत बनाने के लिए शरीर के दूसरे भाग में कोई कमी नहीं रहने देते और सारे अवयव एक-दूसरे की उन्नति एवं परिपुष्टि से लाभ उठाते हैं, वही आधार कुटुंब का भी होता है। आधार 'अपनेपन' को विस्तृत करता है। माता अपना जीवन रस निचोड़कर बच्चे का शरीर बनाती है और उसे पालती-पोसती है। पिता अपनी कमाई को स्वयं कष्ट में रहकर भी बच्चों के लिए खर्च करता और जमा पूँजी को उत्तराधिकार के रूप में उन्हीं को सौंप जाता है। भाई-भाई एक ही हाथ की उंगलियों की तरह मिल-जुलकर काम करते हैं। पति-पत्नी आपस में इतने घुल जाते हैं कि एक प्राण दो शरीर का उदाहरण बनते हैं। संतान अपने माता-पिता को ब्रह्मा विष्णु के समान पूज्य मानती है। बहिन-भाई का संबंध तो अलौकिक ही रहता है। सास-बहू में माता-पुत्री जैसा, देवरानी-जिठानी से बहिन-बहिन जैसा प्रेमभाव रहता है। इसी आधार पर कुटुंबी लोग मिलकर एक सम्मिलित सामाजिक शरीर जैसे बन जाते हैं और उसकी इकट्ठी शक्ति से आर्थिक एवं सामाजिक लाभ अत्यधिक होता है। इस संगठन की छाया में परिवार के बच्चे, बूढ़े, विधवाएँ, अशक्त उपार्जन न कर सकने वाले, अयोग्य व्यक्ति भी बड़े आनंदपूर्वक अपना समय काट लेते हैं। एक-दूसरे के दुःख-दर्द को बटाकर बड़ी से बड़ी मुसीबत को हलकी कर लेते हैं।

निर्जीव वस्तुएँ एक और एक मिलकर दो होती हैं पर सजीव मनुष्य एक और एक मिलकर ग्यारह होते हैं। इस सच्चाई का प्रत्यक्ष अनुभव वहाँ किया जा सकता है, जहाँ परिवार के सभी लोग परस्पर सच्चा प्रेम करते हैं। एक-दूसरे के लिए आदर, उदारता, त्याग एवं आत्मीयता की भावनाएँ निरंतर प्रदान करते रहते हैं। रामायण का

सबसे बड़ा शिक्षण पारिवारिक आधार की आध्यात्मिकता एवं कर्त्तव्यशीलता का शिक्षण ही है। एक से कोई भूल होती है तो दूसरे स्वयं कष्ट उठाकर अपनी उदारता से उसका समाधान करते हैं। दशरथ का कैकेयी को अनुचित वरदान देने के लिए भी वचन-बद्ध होना, कैकेयी का अनुचित वरदान माँगना, राम का धोबी के कथन से प्रभावित होकर सीता को वनवास देना यह तीनों मानवीय दुर्बलताएँ हैं पर इसका समाधान रामायण में प्रतिहिंसा और विद्वेष के रूप में नहीं वरन् दूसरे पक्ष के आदर्श त्याग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दशरथ कैकेयी को संतुष्ट करने के लिए स्वयं पुत्र शोक में मरना स्वीकार करते हैं, राम भी विमाता और पिता को प्रसन्न करने के लिए अनुचित आज्ञा होते हुए भी खुशी-खुशी वन चले जाते हैं। भाई की सुरक्षा के लिए और पति की सेवा के लिए सीता वनवास का कष्टसाध्य जीवन स्वीकार करती हैं। भरत भाई का अधिकार लेना किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते और राम की खड़ाऊँ को सिंहासन पर बिठाकर स्वयं भी एक तपस्वी की तरह जीवन बिताते हुए राज-काज चलाते हैं। सीता को जब परित्याग किया जाता है तो वे अपने पति के प्रति दुर्भावना नहीं लातीं वरन् उनके प्रयास की रक्षा के लिए वाल्मीकि के आश्रम में बिछोह और अभाव का जीवन बिताना स्वीकार करती हैं। कौशिल्या न तो अपने बेटे को वन जाने से रोकती है और न उर्मिला अपने पति को। परिवार का सच्चा आधार यही प्रेम यही आत्म त्याग है। प्रेम से उदारता, सेवा और आत्म त्याग की व्यावहारिक शिक्षा मिले इसलिए कुटुंब की पद्धति मानव जाति में प्रचलित हुई है। यह धारणा न रहे तो कीड़े-मकोड़ों का-सा अपना भी पारिवारिक जीवन रहेगा।

स्वजन संबंधियों के बीच अधिक से अधिक प्रेम होना चाहिए। एक-दूसरे की प्रगति एवं शांति के लिए जी जान से प्रयत्न करें। किसी से कोई भूल हो जाए तो उसे रामायण के पात्रों की तरह स्वयं कष्ट सहकर भूल करने वाले को सुधरने एवं पश्चात्ताप करने का अवसर प्रदान करें, तभी कुटुंब का उद्देश्य और कर्त्तव्य पूरा हो सकता है। भारत की यह आदर्श परिवार प्रणाली लाखों वर्षों तक

घर-घर में स्वर्गीय वातावरण बनाए रहने में समर्थ रही। अभी भी जिस घर में यह वातावरण है, वहाँ कितनी ही कठिनाइयाँ होते हुए भी आनंद एवं संतोष का निर्झर बहता है। पर अब व्यक्तिगत स्वार्थपरता, अनुदार, लोभ, अहंकार आदि मानसिक मलीनताओं की अभिवृद्धि के साथ-साथ पारिवारिक आधार भी टूटते जा रहे हैं। घर-घर में कलह, ईर्ष्या, खींचतान, शोषण, द्वेष और मनोमालिन्य का वातावरण दिखाई पड़ता है। प्रेम और आत्मीयता के अभाव में मजबूरी के बंधनों में बँधे हुए बंदियों की तरह कुटुंबी लोग एक घर में रहते तो हैं, एक चौके में रोटी भी खाते हैं पर उनमें वैसी सहानुभूति नहीं होती जिसकी सुगंधि से हर कुटुंबी का मन आनंद विभोर हो सके। इतना ही नहीं मनुष्य का व्यक्तिगत भावना स्तर जितना क्षुद्र होता जाता है, उसी अनुपात से वह बाहर वालों की तरह घर वालों के लिए भी घातक बनता जाता है। लोभी, स्वार्थी, संकीर्ण और क्रूर स्वभाव बन जाने पर अपने और पराए किसी पर आक्रमण करते उसे देर नहीं लगती।

छोटी-छोटी जिन बातों को उपेक्षा, हँसी, आत्म-त्याग, सत्याग्रह आदि के आधार पर सुधारा जा सकता था, उतनी-सी प्रतिकूलताओं पर एक कुटुंबी दूसरे की जान लेने लगा है। जरा से लोभ के लिए, जरा से स्वार्थ के लिए आत्मीयता को त्यागकर मनुष्य अपने कुटुंबियों के लिए ही कैसा खून का प्यासा बन जाता है उसकी अगणित घटनाएँ पढ़ने और सुनने में आती रहती हैं। सामने पड़े हुए गत वर्ष के अखबारों में से कुछ समाचार नीचे प्रस्तुत करते हैं—घटनाओं का वास्तविक निष्कर्ष तो उनके अदालती निर्णय से निकला होगा पर आरोप एवं जनश्रुति के आधार पर समाचार पत्रों में प्रकाशित घटनाएँ इस प्रकार भी हैं—

नाथद्वारा (देवास) का रामशंकर नामक युवक अपने सगे भाई को जहर देने के आरोप में अपनी पत्नी समेत पकड़ा गया। बताया जाता है कि उस बड़े भाई ने छोटे भाई को उसके हक की जायदाद से वंचित करने के लिए दूध में विष मिलाकर उसे पिला दिया था। टेकमलपुर (आजमगढ़) के एक अहीर पर यह आरोप है कि उसने

खेती के बँटवारे की समस्या सामने आने पर अपने दो बेटों को ही गड़ाँसे से कत्ल कर डाला। जाजऊ (आगरा) का एक युवक अपनी नानी को दिन दहाड़े मार डालने के आरोप में पकड़ा गया। अभियुक्त नानी की पाँच बीघा जमीन हड़पना चाहता था, नानी इसके लिए तैयार न होती थी। एटा जिले के खड़ौआ गाँव में एक छोटी-सी जमीन के बँटवारे पर एक व्यक्ति का कत्ल हो गया। इस सिलसिले में उसका बड़ा भाई और भतीजा पकड़ा गया है। दिल्ली का समाचार है कि एक अठारह वर्षीय युवक ने अपनी माता की गोदी से छीनकर छोटे भाई को जमुना में फेंक दिया। युवक अपनी माता के चरित्र पर संदेह करता था और बच्चे को पिता के रहते हुए भी अवैध होने का अनुमान लगाता था। अकोला में गोपालसिंह नामक व्यक्ति को अपनी सत्तर वर्षीय माता को उसके जेवर हड़पने के लोभ से हत्या करने के आरोप में पकड़ा गया है। दूर गाँव (राँची) के उरांव जाति के एक व्यक्ति ने अपने पिता को लाठी से इसलिए मार डाला कि पिता ने उसे गाली दी थी। भुट्ठी वाला (पंजाब) के अवतार सिंह नामक व्यक्ति को फाँसी का दंड मिला है। अपराधी ने भूमि संबंधी एक मामूली से लोभ के कारण अपने पिता, भाई, भावज तथा उसके तीन बच्चों को मार डाला। ग्वालियर का केदारनाथ नामक व्यक्ति इसलिए पकड़ा गया है कि उसने रोटी बनाने में देर कर देने के कारण कुपित होकर उसके पेट में भाला घुसेड़ कर मार डाला।

बदायूँ का एक धनाढ्य वैश्य का लड़का इसलिए पकड़ा गया है कि उसने पूजा पर बैठे हुए अपने पिता को कुल्हाड़ी से काट डाला। कलारपुरी (गुड़गाँव) की एक सत्तर वर्षीय बुढ़िया को कुएँ में फेंककर मार डाला गया। बताया जाता है कि उसकी चालीस बीघा जमीन हड़पने के लिए इसके कुटुंबियों ने यह कुकृत्य किया है। इसी प्रकार १० हजार के जेवर नगदी तथा ३० बीघा जमीन पर कुटुंबियों की ही कुदृष्टि होने के कारण बघौली (हरदोई) की आनंदीदेवी नामक महिला को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। आनंद पर्वत (दिल्ली) के राजू नामक ४ वर्षीय बालक की लाश पुलिस ने बरामद की है। बताया जाता है कि पिता ने किसी बात पर क्रुद्ध होकर बच्चे को

इतना पीटा कि बेचारे ने दम ही तोड़ दिया। जुन्नारदेव (छिंदवाड़ा) में एक व्यक्ति ने अपने दामाद को घरेलू झगड़े के निपटारे के लिए बुलाया। बेचारे ने समझौते का एक फारमूला तैयार किया पर उसे एक पक्ष स्वीकार नहीं कर रहा था। रात को वह व्यक्ति छुरे से गोदकर मार डाला गया। कहा जाता है कि जिस साले को समझौता पसंद नहीं था, उसी ने अपने बहनोई की हत्या कराई। दिल्ली के किशनगंज मुहल्ले में सुरजीतसिंह नामक व्यक्ति अपनी पत्नी तथा साले को मार डालने के अपराध में पकड़ा गया है। बात इतनी-सी बताई जाती है कि साला अपनी बहिन को लिवाने आया था पर अपराधी अपनी पत्नी को भेजना नहीं चाहता था। चित्तौड़गढ़ में एक धनी महेश्वरी बुढ़िया की लाश को पुलिस ने मरघट में जलने से रोका और पुत्रों को पकड़ा है। कहा जाता है कि अपनी माता की संपत्ति जल्दी ही प्राप्त करने के लिए पुत्र अधीर रहते थे और उन्होंने मिलकर बुढ़िया का गला घोंट डाला।

भागलपुर के एक गाँव का कोई व्यक्ति बैल बेचकर उसके रुपए लाया। उनमें से एक रुपया उसके छोटे पुत्र ने ले लिया। इस पर क्रुद्ध होकर उसने उस्तरे से लड़के का गला काट डाला। इस कांड की सूचना माता ने थाने में जाकर पुलिस को दी। धनपुरी (जबलपुर) में एक व्यक्ति अपनी ससुराल में ही मारा गया। बताया जाता है कि दामाद अपनी पत्नी को विदा करने की जिद कर रहा था। ससुर भेज नहीं रहा था। कहा-सुनी हुई तो ससुर ने दामाद के सिर में मूसल दे मारा, जिससे वह वहीं ढेर हो गया। राँची (बिहार) के एक लखपती ठेकेदार राम किशनदास के पुत्र राजकुमार ने अपनी सौतेली माता चाची व उनके कई बच्चों की हत्या कर डाली, जिससे उसके पिता की संपत्ति पर दावा करने वाला अन्य कोई न रहे। वह इन सबको किसी बहाने से एक मोटर में बैठाकर दूर ले गया, वहाँ अपने मित्र मोटर ड्राइवर रशीद की सहायता से सबको छुरे से काटकर मोटर के बाहर फेंक दिया। मुकदमा चलने पर दोनों अभियुक्तों को प्राणदंड दिया गया। कृष्णानगर, दिल्ली के महेशचंद्र को अपनी सौतेली माँ की हत्या करने के अपराध में फाँसी की सजा हुई है।

अभियुक्त की माता छः वर्ष पूर्व मर गई थी, इसके बाद उसके पिता ने दूसरी शादी कर ली और उसके नाम एक मकान भी खरीद दिया। हत्यारा चाहता था कि यह मकान उसे मिले। इसके लिए उसने पिता से कहा भी पर वह राजी न हुआ तो उसने माता को छुरे से मार डाला और पिता जब बचाने आया तो उसे भी घायल कर दिया। ग्राम मेहरा चौधरी (आगरा) में दो सगे भाइयों में किसी सामान्य कारण पर भयंकर संघर्ष हो गया, जिसके फलस्वरूप एक भाई घटनास्थल पर ही मर गया और उसकी पत्नी तथा पुत्री सांघतिक रूप से घायल हो गई। झांसी की एक कुम्हारिन ने किसी छोटी-सी बात पर क्रुद्ध होकर चार वर्ष के छोटे-से बालक को हंसिए से काट डाला।

ज्ञात हुआ है कि हरदोई जिले के महमदपुर तेरा ग्राम में एक लड़के ने अपनी माँ के आभूषण नगदी हड़पने के लालच में उसकी हत्या कर दी। जब उसने देखा कि उसका बड़ा भाई इस रहस्य को प्रकट कर देगा तो उसे भी मौत के घाट उतार दिया और सारा माल-असवाब जो घर में था लेकर चंपत हो गया। भगतपुर (मुरादाबाद) दो सगे भाइयों में, जो अलग रहते थे, एक नाले के ऊपर झगड़ा हो गया, जिसमें एक ने बल्लम मारकर दूसरे की हत्या कर दी। गोंडा में एक रेल कर्मचारी की दो पत्नियों में पारस्परिक कलह के फलस्वरूप बड़ी ने छोटी को कृपाण से मार दिया। बड़ी पत्नी के संतान न होने के कारण उक्त कर्मचारी ने कुछ समय पूर्व ही दूसरा विवाह किया था। पलवल (जि० गुड़गाँवा) के प्रतापसिंह नामक युवक को अपनी ८५ वर्षीय नानी की हत्या के आरोप में गिरफ्तार किया गया है। वह समय-समय पर नानी से सहायता लिया करता था। इस बार नानी ने उसे कुछ देने से इनकार कर दिया तो उसे जान से मार दिया।

घरेलू नौकर जो परिवार के सदस्यों की तरह ही वफादार रहते थे अब जमाने के साथ वे भी अपना रंग बदल रहे हैं। शाहदरा के एक चाय स्टाल पर काम करने वाले नौकर घूरासिंह ने स्टाल के मालिक मूलचंद तथा उसके पिता को जहर देकर ३५०) चंपत कर

दिये। अस्पताल में वे दोनों बच गए। घूरासिंह को तीन वर्ष की सजा हुई।

इस प्रकार की घटनाएँ भले ही थोड़ी मात्रा में होती हों पर हमारे पारिवारिक जीवन और स्वजन संबंधियों के प्रति रहने वाली स्वाभाविक आत्मीयता में कमी होने का संकेत करती हैं। प्रेम भावना आत्मीयता और ममता यदि घटती चली गईं और उसकी स्थिरता एवं अभिवृद्धि की, आध्यात्मिक आधारों की रक्षा न की गई तो मनुष्य दिन-दिन निष्ठुर ही होता जाएगा और उसका अंत कहाँ होगा, यह कल्पना करने मात्र से दिल दहलने लगता है।

❑ ❑

पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह आवश्यक

परिवार के पालने में आमतौर से यह दृष्टिकोण रहता है कि किसके लिए क्या सुविधा-साधन जुटाए गए ? स्त्री-बच्चों के लिए भोजन, वस्त्र एवं मनोविनोद के विविध पदार्थों एवं परिस्थितियों के लिए चेष्टा चलती रहती है। इसमें जितनी सफलता मिली, उतना ही संतोष कर लिया जाता है कि हमने परिवार पालन का आवश्यक कर्त्तव्य पालन कर लिया।

विचार करने पर यह दृष्टिकोण अधूरा और ओछा ही सिद्ध होता है। सुविधा-साधन उतनी ही मात्रा में जुटाए जाने चाहिए जितने कि निर्वाह की आवश्यक जरूरतें पूरी करने के लिए अभीष्ट हैं। विलासिता और अहंकारिता का प्रदर्शन करने के लिए जो भी साधन जुटाए जाते हैं, वे तात्कालिक प्रसन्नता भले ही दे सकें, उनके परिणाम अंततः बुरे ही होते हैं।

विलासिता के साधनों का उपभोग करने की आदत यदि छोटेपन से ही पड़ जाए तो अनावश्यक खर्च भी आवश्यक जैसे प्रतीत होने लगेंगे और उनकी पूर्ति न हो सकने पर निरंतर दुःख बना रहेगा। जीवन की पगडंडी बड़ी ऊबड़-खाबड़ है। कहा नहीं जा सकता कि कब, किसे, किस स्थिति का सामना करना पड़े ? आवश्यक नहीं कि जो संपन्नता आज है, वह भविष्य में भी बनी ही रहेगी। जो आज की आमदनी है वह भविष्य में भी बच्चों को उपलब्ध होती ही रहेगी। यदि घटिया परिस्थितियाँ सामने आईं और कम खर्च में गुजारा करना पड़ा तो वे विलासी आदतें जो अभिभावकों ने लाड़ में लगा दी थीं, समस्त जीवन काल में दुःखदाई रहेंगी। अभावग्रस्तता यदि सहन न हो सकी तो वे अपराधी रीति-नीति अपना लेंगे और अपना लोक-परलोक दोनों ही बिगाड़ेंगे। इन दूरगामी परिणामों पर जो ध्यान नहीं दे सकते वे ही अपने परिवार को

अनावश्यक विलासी साधनों का अभ्यस्त बनाते चले जाते हैं। वे नहीं जानते कि यह लाड़-चाव प्रकारांतर से परिवार के सदस्यों के साथ शत्रुता बरतने जैसा व्यवहार ही है।

परिवार के प्रत्येक सदस्य को सुसंस्कारी बनाना गृहपति का सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे आवश्यक कर्त्तव्य है। सद्‌गुणों को स्वभाव का अंग बनाया जा सके—कर्मनिष्ठा में उत्साह स्थिर रह सके ऐसे अभ्यास आरंभ से ही कराए जाने चाहिए। परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न करनी चाहिए, जिनमें रहकर बालक मानवोचित सद्‌गुणों की शिक्षा प्राप्त कर सके और जीवन संग्राम में तैयारी के साथ उतर सके। परिजनों में ऐसी कर्मठता और साहसिकता उत्पन्न करने के लिए जिन अभिभावकों ने प्रबल प्रयत्न किए उन्हीं को सच्चे अर्थों में परिवार का पालनकर्त्ता कह सकते हैं। बुरी आदतों का अभ्यासी बनाकर जिंदगी भर कँटीली झाड़ियों में भटकने के लिए जिन्होंने अपनी संतान को असहाय छोड़ दिया, उन्होंने प्रकारांतर से शत्रुता ही बरती। बालकों को विलासिता, अहंकारिता और उच्छृंखलता बरतने के अवसर देना वस्तुतः गृह संचालन के पवित्र कर्त्तव्य से सर्वथा विपरीत स्तर की बात है।

परिवार के सदस्यों की सच्ची सेवा उन्हें सद्‌गुणी और स्वावलंबी बनाने में है। बाप-दादों की छोड़ी संपदा से ब्याज-भाड़े पर गुजारा करने वाली संतान भले ही आराम के साथ दिन काट ले पर उसकी प्रतिभा का स्तर लुंजपुंज ही रहेगा। जिसने कठोर कर्मक्षेत्र में उतरकर भुजबल और मनोबल को चरितार्थ करने का अवसर नहीं पाया उसे एक प्रकार से अपंग ही कहना चाहिए। पूर्वजों की कमाई पर गुजर करने वाली संतान को पराक्रम की कसौटी पर कसते हुए अपंग ही घोषित करना पड़ेगा।

चिड़िया घोंसले में थोड़ा मजबूत होने वाले बच्चे को उड़ना सिखाने के लिए घोंसले से नीचे धकेलती है। बच्चा डरता है, झिझकता है तो भी वह लाड़ प्यार की भावुकता भुलाकर उसे धकेल ही देती है। नीचे गिरते हुए बच्चा पंख खोलता है। अभ्यास न होने से वह लड़खड़ाता है तो चिड़िया सहारा देती है। लगातार साथ

रहकर उसे उड़ने का अभ्यस्त बना देती है। वह जानती है कि जन्म देना या पाल देना ही नहीं बच्चे को स्वावलंबी बनाना भी आवश्यक है। यह द्रष्टिकोण प्रत्येक अभिभावक का रहना चाहिए। ब्याज-भाड़े की कमाई पर परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता पर गुजर करने की बात घर के किसी सदस्य के मन पर नहीं बैठने देनी चाहिए। सबको यह सोचने देना चाहिए कि उन्हें अपनी जिंदगी का भार स्वयं सहन करना है और अभिभावकों की सहायता से इतना भी अवसर प्राप्त करना है कि स्वावलंबन की समस्या का हल अपने पराक्रम से पूरा किया जा सके।

इस प्रकार की समर्थता प्राप्त करने का उत्साह न केवल बालकों, किशोरों और युवकों में उत्पन्न किया जाना चाहिए बल्कि महिलाओं में भी वैसी ही उमंग पैदा की जानी चाहिए। उन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि वे आड़े समय स्वावलंबी जीवन जी सकें। आवश्यक नहीं कि यह उपार्जन मुसीबत के समय ही किया जाए। सुविधा संपन्न स्थिति में भी उत्पादक पराक्रम करना पड़े एवं सौभाग्य एवं गौरव की बात है। इससे दबी हुई प्रतिभा के अनेक परत उभरते हैं और निठल्ले दिन काटने वालों की तुलना में वह पुरुषार्थी हर दृष्टि से सुयोग्य एवं समर्थ बनता चला जाता है। इस प्रकार के अवसर देना वस्तुतः सुविधा साधनों से लाद देने की अपेक्षा हजार गुना अधिक श्रेयस्कर है।

कई व्यक्ति अपनी बहू-बेटियों को गुड़िया बनाकर रखते हैं और उन्हें कोमल परमुखापेक्षी बनाए रहते हैं। उनके लिए आराम तलबी के साधन जुटाते हैं और विलासिता के उपकरण इकट्ठे करते हैं। समझा जाता है कि उन्हें यह सुखद सौभाग्य मिल रहा है पर वस्तुतः यह सर्वदा उलटी बात है। परावलंबी अनुदान पाकर संभव है किसी को शारीरिक सुविधा या मानसिक प्रसन्नता मिलती भी रहे पर आत्मा का पतन ही होता रहेगा। जब तक किसी को यह अनुभव न हो कि वह आत्म निर्भर है—समर्थ एवं सुविकसित है, तब तक उस गौरव की अनुभूति नहीं हो सकती, जो मानवी अंतःकरण को संतोष देने की दृष्टि से नितांत आवश्यक है।

न केवल आर्थिक क्षेत्र में वरन् ज्ञान, अनुभव के क्षेत्र में भी परिवार के हर सदस्य को इस योग्य बनाया जाना चाहिए कि वह सामने आने वाली प्रत्येक समस्या का सही स्वरूप समझने और उन्हें हल करने में अपनी बुद्धिमत्ता के सहारे ही समर्थ हो सके। विद्या, अध्ययन, विचार-विनिमय, अनुभव एवं विविध विषयों की विस्तृत जानकारी के अभाव में मनुष्य की समझ कूप मंडूक जैसी बनी रहती है। स्वतंत्र चिंतन की नीर-क्षीर विवेकी की उसमें क्षमता ही नहीं होती। जो पक्ष सुझा दिया जाता है उसी की तोता रटंत चलती रहती है। गुण-अवगुण के औचित्य-अनौचित्य की उभयपक्षीय चेतना जिसके मस्तिष्क में रहती है, वही यथार्थवादी निर्णय पर पहुँच सकता है और उलझनें सुलझा सकता है। अस्तु यह आवश्यक है कि परिवार के हर सदस्य को इतना विचारशील बनाने के लिए अध्ययन, विचार-विनिमय एवं तर्क-वितर्क कर सकने योग्य मस्तिष्क का निर्माण करने में सहायता दी जाए। जीवन के विस्तृत क्षेत्र में आत्म रक्षा और प्रगति की दृष्टि से ऐसी वैचारिकता नितांत आवश्यक है। परिवार के सदस्यों को यदि ऐसी विचारशीलता उत्पन्न करने के अवसर दिए गए हैं तो समझना चाहिए कि गृहपति ने अपने उत्तरदायित्वों में से एक अति महत्त्वपूर्ण पक्ष का ठीक तरह निर्वाह कर दिया।

प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ही मनुष्य की सबसे बड़ी संपदा है। धन दौलत जैसे साधनों में स्थिरता तनिक भी नहीं। यदि हो भी तो भी उतने भर से पेट पालना ही संभव है। मनुष्य पेट तक सीमित नहीं। उसके आगे भी उसमें बहुत कुछ है। इस 'बहुत कुछ' को विकसित करने के लिए प्रतिभा को विकासोन्मुख किया जाना चाहिए। कहना न होगा कि प्रतिभा सद्गुणों के समन्वय का ही नाम है। आत्मविश्वास को ही प्रतिभा के रूप में प्रकाशवान देखा जा सकता है। आत्म निरीक्षण, आत्म सुधार, आत्म निर्माण और आत्मविकास के चार पायों पर आत्मविश्वास अथवा आत्मबल का मचान खड़ा होता है। ऐंठ, अकड़, धूर्तता या उच्छृंखल दुस्साहस के ओछे तरीके अपनाने वाले उद्दंड व्यक्ति भी कई बार अपने को प्रतिभाशाली मानने लगते हैं पर बात वैसी है नहीं। धैर्य, साहस, संयम, सदाचार, व्यवस्था, कर्तव्य

निष्ठा जैसे सद्गुणों की मिली-जुली धारा ही प्रतिभा बनती है और उसी से मनुष्य प्रभावशाली बनता है। यही प्रभाव दूसरों पर अपनी छाप छोड़ता है और उसी के आधार पर प्रगति के पथ पर बढ़ चलने का पराक्रम उत्पन्न होता है।

उत्तराधिकारियों के लिए संपत्ति छोड़कर मरना वस्तुतः उनके लिए स्नेह नहीं वरन् द्वेष भरा आचरण है। उससे उनकी उपार्जन प्रतिभा घटती है और उस प्रयास से सूझबूझ में तीक्ष्णता आने का अवसर नष्ट होता है। स्पष्ट है कि बिना परिश्रम के उपलब्ध हराम की कमाई का उपभोग करने वालों के पीछे आलस्य, प्रमाद जैसी जड़ता से लेकर व्यसन और अपव्यय जैसी अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ पीछे पड़ती हैं। व्यक्तित्व जंग लगे निकम्मे लोहे की तरह दिन-दिन गलता चला जाता है। आराम से दिन काटना यों सौभाग्य समझा जाता है पर है वह परले सिरे का दुर्भाग्य। जिसमें संघर्ष न हो, जिसमें पराक्रम और पुरुषार्थ को प्रखर बनाने वाले अवरोध नहीं, भला उस जीवन में भी कोई रस हो सकता है ?

हमें अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य को जीवन संग्राम में बढ़चढ़ कर हाथ दिखा सकने योग्य पराक्रमी योद्धा बनाना चाहिए। इस प्रकार की क्षमता कठिनाइयों से जूझने और स्वावलंबी रीति-नीति अपनाने से ही विकसित हो सकती है। वस्तुतः यह प्रतिभा ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसी के सहारे गई-गुजरी परिस्थितियों में उत्पन्न हुए व्यक्ति क्रमशः ऊँचे उठे और आगे बढ़े हैं। महामानवों के प्रगतिशील लोगों के जीवन क्रम में यह तथ्य सर्वत्र उभरा पाया जाएगा कि उन्हें संघर्ष में भारी रुचि रही है और परिस्थितियों से जमकर जूझने में उन्होंने प्रबल पुरुषार्थ का परिचय दिया है, दुस्साहस का ही दूसरा नाम उत्कर्ष है। जमीन का पेट चीरकर जब बीज अपनी हस्ती से खिलवाड़ करता हुआ अंकुर बनकर ऊपर उभरता है, तभी उसके वृक्ष बन सकने की संभावना मूर्तिमान होती है। विकासोन्मुख जीवन प्रक्रिया भी इसी प्रकार अंकुरित एवं विकसित होती रही है।

सदाचरण की ही तरह प्रबल पुरुषार्थ में और करीने की सुंदर सुव्यवस्थित जिंदगी में भी समुचित निष्ठा होनी चाहिए, तभी कोई व्यक्तित्व समर्थ और सुविकसित हो सकेगा। परिवार के प्रत्येक सदस्य की मनःस्थिति में इन्हीं सद्गुणों के बीज बोए जाने चाहिए। इसका सर्वोत्तम उपाय यही है कि उन गुणों से अपने को अभ्यस्त करें और आए दिन ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते रहें, जिनका अनुकरण करके घर के सभी सदस्यों को उसी मार्ग का अनुगमन उसी क्रिया का अनुकरण करने की इच्छा उत्पन्न होती रहे। हर सदस्य को उसकी स्थिति के अनुरूप कर्त्तव्य सोचने चाहिए और उत्तरदायित्व। उनके निर्वाह में जहाँ वे चूकते हों, लड़खड़ाते हों वहीं आगे बढ़ कर उन्हें सहायता देनी चाहिए। यह कार्य बिना झिड़के, बिना खीजे शांत चित्त और स्नेहसिक्त मनःस्थिति से किया जाए तभी सफल हो सकता है।

विलासिता, आराम तलबी और फिजूलखर्ची की आदत घर में किसी को भी नहीं पड़ने देनी चाहिए। चुस्ती और स्फूर्ति स्वभाव का अंग बनता चली जाए। कठिनाइयों से जूझने की हिम्मत बढ़ती जाए तो समझना चाहिए कि उत्तराधिकारी को ऐसी संपदा मिल गई जिसके आधार पर वे प्रगतिशील जीवन जी सकेंगे। हँसने-हँसाने की, हलके-फुलके रहने की, स्नेह सद्भाव की कठोर परिश्रम करने और व्यस्त रहने की आदत अपने घर के लोगों को देकर जो अभिभावक विदा हुए समझना चाहिए, उसने अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह सही रीति से कर दिया और साथ ही एक बड़ी सामाजिक जिम्मेदारी भी पूरी कर डाली।

❐ ❐

परिवार और हमारे कर्त्तव्य !

परिवार ही वह आधार है, जिस पर समाज रूपी किला स्थिर रहता है। पारिवारिक व्यवस्था से एक ओर तो मनुष्य की सुख-सुविधाओं में वृद्धि होती है तथा प्रगति के मार्ग खुलते हैं, तो दूसरी ओर सृष्टि का चक्र भी इसी धुरी पर चलता है। मानव को, जन्म लेने से सक्षम होने तक, परिवार पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जैसा परिवार होगा, वैसे ही व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव बनेंगे तथा वैसा ही राष्ट्ररूपी मंदिर खड़ा होगा।

पश्चिमी सभ्यता के चकाचौंध ने इस व्यवस्था को लगभग हिलाकर रख दिया है। हमारी परिवार व्यवस्था संकुचित होती चली जा रही है। पश्चिम में तो संयुक्त परिवार की प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी है। हमारे यहाँ भी इसका प्रभाव पड़ा है और संकीर्णता की मनोवृत्ति फैली है। यही कारण है कि हम दिनों दिन अधिक स्वार्थी तथा संकीर्ण होते चले जा रहे हैं। जैसा खाद तथा पानी पौधे को मिलेगा, वृक्ष का ढाँचा वैसा ही होगा। स्वार्थपरता तथा संकीर्णता की जो बाढ़ हमारे यहाँ फैली है, उसका एक मात्र यही कारण हमारे परिवार का वह स्वरूप बदल जाना है जो कभी था। आवश्यकता आ पड़ी है कि हर विचारशील इस चरमराती हुई पारिवारिक-व्यवस्था को सहारा दे तथा फिर से विचार करे कि भूल कहाँ है, क्योंकि यही गिरावट अगर चलती रही तो समाज का बड़ा ही वीभत्स रूप सामने आएगा, जिसमें मनुष्य-मनुष्य को कच्चा चबा जाने की बात सोचेगा।

हमारे पुराने विचारकों ने गृहस्थ-जीवन की बड़ी महिमा गाई है तथा सद्गृहस्थ को योगी कहकर पुकारा है। वास्तव में यह योगी है भी—अगर अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सजग रहे। योगी की परिभाषा मोटे शब्दों में यही है कि जो समाज को सुव्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए अपना जीवन अर्पित कर दे, सद्गृहस्थ

परिवार के संचालन का भार अपने ऊपर लेता है तथा यह अनुभव करता है कि उसके ऊपर एक ऐसी पाठशाला की जिम्मेदारी है, जिसमें देश तथा समाज के कर्णधारों को शिक्षण मिलता है।

विवाह तो प्रायः सभी करते हैं लेकिन जहाँ एक व्यक्ति सृष्टि-संचालन तथा प्रजा पालन की दृष्टि से शादी करता है, दूसरा काम-सेवन की सुविधा को ध्यान में रखकर करता है। दूसरे वर्ग के लोगों को हम सद्गृहस्थ के दायरे में नहीं रख सकते। जहाँ सद्गृहस्थ का विवाह करना, उसकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है, असद्गृहस्थ के लिए दुःख का कारण बन जाता है। समाज के प्रति कर्त्तव्य समझकर विवाह करने वाले लोगों की संतानें स्वभावतः शिष्ट एवं शालीन होकर सुख-शांति की वृद्धि का कारण सिद्ध होती हैं, क्योंकि ऐसा व्यक्ति विवाह द्वारा आई हुई जिम्मेदारी को समझता है तथा उत्पन्न कर्त्तव्यों को पूरी तत्परता से पूरा करने के लिए सारी क्षमता का प्रयोग करता है। विवाह उसके लिए काम-क्रीड़ा अथवा इंद्रिय-भोग का रजिस्ट्रेशन न होकर धार्मिक तथा सामाजिक कर्त्तव्य होता है।

वास्तव में परिवार एक ऐसी प्रयोगशाला है, जहाँ सद्गृहस्थ की क्षमताओं का विकास निरंतर होता जाता है। गृहस्थ-जीवन की महिमा तभी है, जब सद्गृहस्थ बनकर परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यों का सर्वतोमुखी पालन किया जाए। अन्यथा वही परिवार दुःख और कष्ट का कारण बन जाता है।

शादी करने का दृष्टिकोण यही होना चाहिए कि इसके माध्यम से समाज को योग्य राष्ट्र-प्रेमी प्रदान किया जाए। अन्यथा काम-सेवन की दृष्टि से किया गया विवाह नरक का ही सृजन करता है।

सद्गृहस्थों का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह अपने परिवार में संकीर्णता का प्रवेश न होने दें। विभिन्न घटकों में प्रेम का वातावरण रहे। प्रेम तथा सहयोग के अभाव में परिवार नर्क का रूप धारण कर लेता है। स्वार्थपरता अभाव से ही उत्पन्न होती है। अक्सर अभाव में लोग लड़ने-झगड़ने लगते हैं। सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि परिवार को जितने अर्थ की आवश्यकता है, उसका उपार्जन करे। आर्थिक

स्थिति ठीक हुए बिना प्रगति के मार्ग अवरुद्ध रह जाते हैं। इस कमी को दूर करने के दो ही उपाय हैं—**पहला** अनावश्यक खर्चों में कटौती तथा **दूसरा**—आय की वृद्धि। सद्गृहस्थ को सोचना होगा कि इन दोनों में से कौन-सा कदम उठाना होगा, जिससे आर्थिक-समस्या का निवारण हो। आय की वृद्धि करने के लिए, उसे अपने आलस्य-प्रमाद पर विजय पानी होगी तथा कर्मठता का परिचय देना होगा। आलसी तथा अकर्मण्य निश्चय ही उतना उपार्जन नहीं कर पाते, जिससे परिवार की आवश्यकता पूरी की जा सके। इस स्थिति में हर सदस्य किसी तरह छीन-झपटकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इस छीना-झपटी में स्वार्थपरता का जन्म होना स्वाभाविक है। पूरे समय के सदुपयोग तथा पूरे परिश्रम करने पर भी अगर आर्थिक तंगी दूर न हो तो सभी सदस्यों को विचार-विमर्श द्वारा यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि किन-किन खर्चों में कटौती की जा सकती है ?

स्वार्थपरता के अंकुरित होने का दूसरा कारण है—अधिक संपन्नता। इस स्थिति में हर सदस्य अपने लिए अधिक से अधिक पाने की इच्छा करने लगता है तथा विलासिता, अकर्मण्यता तथा फैशनपरस्ती को प्रश्रय मिलता है। ऐसी अव्यवस्थित दशा में स्वार्थपरता तथा कलह-परायणता की वृद्धि हो जानी स्वाभाविक ही है।

एक और गुण जो सद्गृहस्थों के लिए जरूरी है—समता की दृष्टि, उसे हर सदस्य को समता की दृष्टि से देखना चाहिए। किसी को अधिक महत्त्व दे देना तथा किसी को कम कलह को जन्म देना है। ईर्ष्या-द्वेष का जन्म होता है तथा लोगों की दृष्टि संशयात्मक हो जाती है ऐसे परिवार को टूटते देर नहीं लगती।

हमें पारिवारिक सुख को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए समानता का व्यवहार करना होगा। जिसकी जो आवश्यकता तथा स्थिति होती है, उसी के अनुसार उस पर खर्च करना और ध्यान देना चाहिए। किंतु भोजन तथा वस्त्र के मामले में सबको बराबर की दृष्टि से ही देखना चाहिए।

सद्‌गृहस्थ को शिष्टाचार को महत्त्व देना चाहिए क्योंकि शिष्ट-परिवार से ही शिष्ट-व्यक्ति समाज को प्राप्त होंगे। सद्‌गृहस्थ स्वयं मर्यादित जीवन जीकर दूसरे सदस्यों को भी वैसी ही रीति-नीति अपनाने की प्रेरणा देते हैं।

परिवार के हर सदस्य को शिक्षित तथा विकसित करने की जिम्मेदारी भी सद्‌गृहस्थ समझता है, क्योंकि अशिक्षित तथा अनपढ़ व्यक्तियों पर सदाशयता के सहारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं।

समाज की आवश्यकतानुरूप बच्चे पैदा करना हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए। कोई जमाना था, जब अधिक बच्चे होना सौभाग्य की निशानी समझी जाती थी। पर आज बच्चे पैदा करके हम समाज तथा अपने प्रति अन्याय ही करेंगे।

हर व्यक्ति समाज का ऋणी है। हम आज जो भी हैं, समाज द्वारा ही विनिर्मित हैं। संसार के प्रति हमारे कर्त्तव्य की जानकारी हमें होनी चाहिए। समाज ने शिक्षा, ज्ञान, अन्न, वस्त्र आदि कितने ही प्रकार की सुविधाएँ देकर हमें प्रगति के मार्ग पर अग्रसर किया है तो हमारा भी कर्त्तव्य है कि समाज को योग्य नागरिक प्रदान कर अपनी सामाजिक-निष्ठा का परिचय दें। इसीलिए हमारे वैदिक-मनीषियों ने गृहस्थाश्रम को एक प्रमुख आश्रम बताया तथा इसे धर्म का एक अंग बनाया। संसार रहने लायक तभी तक है, जब तक यहाँ प्रेम का विस्तार है। हम समाज प्रेमी व्यक्ति समाज को बढ़ा सकते हैं, अगर गृहस्थाश्रम की महत्ता को हृदयंगम कर लेते हैं। अन्यथा वही होगा, जो पश्चिमी सभ्यता के परिवारों में होता है। वहाँ के परिवार किस तरह बिखर रहे हैं किसी से छिपा नहीं है। इसलिए परिवार व्यवस्था को बनाए रखने के लिए पारिवारिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह की भावना को बढ़ाना जरूरी है।

❒ ❒

परिवार को एक इकाई मानकर चला जाए

परिवार व्यवस्था को बनाए रखने के लिए पारिवारिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह की भावना को बढ़ाना जरूरी है। परिवार के हर सदस्य की अपनी-अपनी निजी इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ होती हैं। इसके साथ-साथ पूरे परिवार की कुछ आवश्यकताएँ ऐसी भी होती हैं कि जिनका उपयोग परिवार के सभी सदस्य करते हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति कमाई करने वाले सदस्यों द्वारा होती है। परिवार में अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व गृह-संचालकों पर तो है ही, पर साथ ही हर सदस्य का उत्तरदायित्व भी यह है कि पारिवारिक सुव्यवस्था एवं प्रगति में भरपूर सहयोग प्रदान करें। यदि हर सदस्य अपनी-अपनी आवश्यकताओं के लिए खींचतान करने लग जाएँ तो उनकी पूर्ति करने में व्यवधान उपस्थित हो जाता है, क्योंकि खींचतानपूर्ण आपाधापी में परिवार का हर सदस्य अपनी आवश्यकता को महत्त्वपूर्ण समझता है। उसे सबसे पहले पूरी करवाने के लिए व्यग्र रहता है। ऐसी परिस्थिति में सबकी आवश्यकताएँ एक साथ पूरी कर देने में कठिनाई आने से परिवार के परिजन मन ही मन अशांत और ईर्ष्यालु होने लगते हैं।

किसी एक की आवश्यकता की पूर्ति पहले कर देने पर उस सदस्य के प्रति ईर्ष्या का विकार जग जाना स्वाभाविक है। यही ईर्ष्या अशांति का कारण बनती है। आय के स्रोत सीमित होते हैं। यह कैसे संभव है कि सभी की बढ़ी-चढ़ी आवश्यकताओं को सीमित आय के द्वारा पूरा किया जा सके ? फिर आवश्यकताओं का महत्त्व भिन्न-भिन्न क्रम से होता है। बीमार व्यक्ति की आवश्यकता और किसी की शौक-मौज युक्त आवश्यकता में अंतर है। इससे कोई इनकार नहीं कर सकता है। यदि इन दोनों आवश्यकताओं के बीच खींचतान होने

लगे तो बीमार को कितनी हानि उठानी पड़ सकती है, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

परिवार की सभी आवश्यकताओं के बीच सामंजस्य एवं संतुलन बना रहे इसका उत्तरदायित्व गृह-संचालकों पर होता है। कौन-सी आवश्यकता पहले पूरी की जानी है, जिसे पूरी नहीं भी की गई तो बताया जा सकता है कि किस क्रम से पूर्ति करना है ? इत्यादि बातों के संबंध में निर्णायक गृह-संचालक पति-पत्नी हैं, क्योंकि इन दोनों में पति का उत्तरदायित्व बाहर से वस्तुएँ जुटाना एवं धनोपार्जन करना है। किंतु वस्तुओं और धन का परिवार में औचित्यपूर्ण उपयोग पत्नी ही करती है। परिवार की आवश्यकताओं को उचित ढंग से वितरण करना पत्नी के अधिकार में है। पत्नी ही अपने विवेक के द्वारा उपलब्ध आय एवं वस्तुओं का उचित एवं निष्पक्षतापूर्वक वितरण करके घर में सामंजस्यपूर्ण परिस्थिति का निर्माण करती है।

परंतु परिवार में पत्नी जब स्वार्थ के वशीभूत होकर केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में ध्यान देने लगती है अथवा अहंकार के वशीभूत होकर यह सोचने लगती है कि उसका पति कमाता है, इसलिए अधिक आवश्यकताओं का उपयोग करने का अधिकार भी उसी को है। इन दो कारणों को सामने रखते हुए पत्नी घर में अपनी आवश्यकताओं को अधिक महत्त्व देने लगती है। फिर चाहे परिवार में कोई बीमार हो या शिक्षा संबंधी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता आ पड़ी हो, लेकिन पत्नी को तो अपने विलासी सामान की ललक है। ऐसी परिस्थिति में परिवार की आवश्यकताओं के बीच असंतुलन उपस्थित हो जाता है, यही असंतुलन धीरे-धीरे परिवार में दरारें उत्पन्न करता है। इधर यदि पति निष्पक्षतापूर्वक परिवार की आवश्यक्ताओं के प्रति निरीक्षण नहीं कर पाता है तो और अधिक असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। जिस परिवार में पति-पत्नी दोनों परिवार की आवश्यकताओं के प्रति विमुख हो जाते हैं, तो घर में क्लेश शुरू होने लगता है।

इसका सीधा हल तो यही है कि पति और पत्नी को यह विचार करना चाहिए कि पूरा परिवार उन पर आश्रित है। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति उन्हीं के द्वारा हो सकेगी। यदि इसके प्रति वे

अनुत्तरदायी रहे तो घर के लोगों की प्रगति में बाधा हो सकती है। पत्नी का तो प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह विलासी आवश्यकता और स्वास्थ्य व शैक्षणिक आवश्यकता के बीच स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण अंतर समझने का प्रयत्न करे। उसे सारे परिवार को एक इकाई के रूप में मानना चाहिए। जब उसका दृष्टिकोण संपूर्ण परिवार एक इकाई है, ऐसा हो जाता है तो फिर वह सारे परिवार की आवश्यकताओं के प्रति एक इकाई के रूप में विचार करेगी और ऐसा ही कदम बढ़ाएगी। पारिवारिक इकाई के मध्य पत्नी अपनी आवश्यकताओं को व परिवार के अन्य परिजनों की आवश्यकताओं को औचित्य की तुला पर तौल कर ही पूरा करने का उपाय निकालेगी। इस समझदारी के साथ यदि पत्नी ने निर्णय लिया तो परिवार का सामंजस्य एवं संतुलन बना रहेगा।

इसके लिए पत्नी को गंभीरतापूर्वक घर की आय पर विचार करके निर्णय लेना चाहिए। उसे घर का संतुलित बजट तैयार करना चाहिए। उस बजट में अनिवार्य आवश्यकताओं और बचत को प्राथमिकता देना चाहिए। इसके पश्चात् यदि आय में गुंजाइश हो तो पत्नी निष्पक्षतापूर्वक एवं विवेक के साथ यह देखे कि परिवार में किस सदस्य की महत्त्वपूर्ण अन्य आवश्यकता है, उसे पूरी करनी चाहिए। यदि प्रति माह इस प्रकार ध्यान पत्नी या पति रखते हों तो परिवार के परिजनों में धैर्य रहेगा और खींचतान नहीं हो पाएगी क्योंकि वे समझ लेंगे कि महत्त्वता के आधार पर बिना कहें आवश्यकताओं की पूर्ति होती है फिर आपा-धापी करने में कोई तुक नहीं है।

गृह संचालक की पत्नी को दूसरों की नकल करके अपनी आवश्यकताएँ नहीं बढ़ानी हैं। अपनी क्या आवश्यकताएँ हैं और उन्हें अपने पति की आय की सीमा में रखा जाना कहाँ तक संभव है आदि बातों का ध्यान रखते हुए, निर्णय लिया जाना चाहिए। इससे घर में प्रसन्नता भी बनी रहेगी।

पत्नी ने घर की आवश्यकताओं को समझकर या समय बिताने की दृष्टि से नौकरी कर ली है। इसके द्वारा आप अपनी अनेक

आवश्यकताओं को पूरी कर लिया करती हैं। ऐसे अवसर पर पत्नी के मन में अहंकार पनप सकता है कि उसे पति की आय पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं अपनी निजी आमदनी से व्यय पूरा कर लेती है। ऐसी दशा में वह गति के प्रति और परिवार के परिजनों के प्रति उपेक्षा के भाव रख सकती है। इससे मनोमालिन्य बढ़ता है और घर में कलह की वृद्धि होती है।

पति की अपनी निजी आवश्यकताएँ भी होती हैं, हो सकता है, उनमें से बहुत-सी पत्नी को नहीं रुचती हों अथवा वे आवश्यकताएँ खर्चीली होने के कारण परिवार के बजट पर भार पड़ता हो। यदि पत्नी इसमें शीघ्र हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करेगी तो दांपत्य में व्यर्थ का मैल बढ़ेगा। इसके लिए पति को खास अच्छे मूड में समझा दिया जाना उत्तम है। यदि आप समझती हैं कि पति को बाहर के पेशे के कारण कुछ आवश्यकताएँ लगती हैं, जो आपके लिए व्यर्थ हैं, पर पेशे की दृष्टि से आवश्यक हैं तो उनमें पत्नी को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

गृह संचालक अथवा परिवार के कमाऊ सदस्यों की पत्नियों का विशेष उत्तरदायित्व है कि वे पूरे परिवार की सुख-सुविधा एवं प्रगति का उदारतापूर्वक ध्यान रखें। जब वह यह अच्छी तरह जानती हैं कि परिवार में वही कर्त्ता-धर्त्ता और अगुआ हैं तो फिर अगुआ को तो अपने पीछे वालों का ध्यान रखना चाहिए। इन्हीं आधारों पर पत्नी को एक बार अपनी आवश्यकताओं को त्यागना पड़े तो उससे पीछे नहीं हटे।

अपनी आवश्यकताओं में कमी करके सादगी का जीवन जीते हुए घर की जिम्मेदारी अनुभव करते हुए महिलाएँ परिवार के अन्य सदस्यों के लिए अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर सकती हैं। त्याग का प्रभाव आपके पति और परिवार के परिजनों पर भी पड़ेगा। त्याग के बदले त्याग की भावना का जागरण परिवार के परिजनों के हृदय में होगा। परस्पर त्याग भरा वातावरण संपूर्ण परिवार में संतुलन एवं सामंजस्य स्थापित कर देगा।

परिवार चाहे संयुक्त हो या विरल पर स्नेह-सद्‌भाव तो उसके प्राण हैं। यदि परिवार के सदस्यों में स्नेह और आत्मीयता न हो तो वहाँ का वातावरण घुटन भरा हो जाता है। जिन घरों में सास-बहू के लड़ाई-झगड़े, ननद-भौजाई का मनमुटाव, वृद्ध व्यक्तियों का चिड़चिड़ापन तथा युवा सदस्यों की समस्याएँ सिर उठाए रहती हैं, उनका वातावरण कितना तनावपूर्ण और कितना दुःखदायी होता है यह कहा नहीं जा सकता है।

प्रश्न उठता है कि ये समस्याएँ क्यों उत्पन्न होती हैं ? संयुक्त परिवारों में सास-बहू के बीच प्रायः मनमुटाव और कलह-द्वेष चलता है। सास-बहू को अपने नियंत्रण में रखना चाहती है, उससे अपेक्षा रखती और दबाव देती है कि बहू उसके कहे अनुसार आचरण करे। बहू अपने आचरण को सास के इशारों के अनुसार बनाना नहीं चाहती और तनातनी का धंधा शुरू हो जाता है। सास अपने लड़के पर अपना अधिकार पास करती है और बहू अपने पति को अपने वशवर्ती रखने का प्रयास करती है। ऐसी स्थिति में उत्पन्न होने वाले द्वन्द्व के कारण घर का वातावरण अशांतिपूर्ण हो जाता है।

सोचना चाहिए कि सास-बहू का संबंध पवित्र संबंध है। उसका स्तर माँ-बेटी के संबंधों से एक भी इंच कम नहीं है। सास स्वयं बहू को देखने के लिए लालायित रहती है और उस दिन को अपने लिए बड़े गौरव का दिन समझती है, जब घर में बहूरानी का पदार्पण होता है। फिर सास बहू को दुश्मन की तरह क्यों देखने लगती है ? उसे चाहिए कि वह उदारता, स्नेह और बड़प्पन की गरिमा से मुक्त होकर बहू से व्यवहार करे। बहू की सहायता तथा पथ प्रदर्शन के लिए हर घड़ी तत्पर रहे। देखा जाता है कि बेटी द्वारा किया गया बड़े से बड़ा नुकसान भी सहन हो जाता है, पर बहू की छोटी-सी भूल भी असह्य हो उठती है। यह अनुदारता क्यों ? इसलिए कि बहू को दूसरे घर से आई लड़की समझा जाता है तथा यह अपेक्षा की जाती है कि वह आते ही घर के सारे कामकाज जिम्मेदारीपूर्वक संभाल ले।

इस दोहरी नीति के मूल में अपनत्व की भावना का अभाव ही कारण रूप से विद्यमान रहता है। सास को जहाँ उदार दृष्टिकोण

अपनाना चाहिए वहाँ बहू को भी आत्मीयता के संबंध तथा अपनत्व के विकास की ओर समुचित रूप से ध्यान देना चाहिए। बहू भी सास से मातृवत् संबंध स्थापित करने के लिए कोई पहल करती दिखाई नहीं देती। उसे अपनी माँ की कड़ी से कड़ी डाँट-फटकार तो सहज स्वाभाविक लगती है पर सास की थोड़ी-सी मीन-मेख भी कटु आलोचना लगने लगती है। यदि सास बहू को बेटी की निगाह देखे और बहू सास को सगी माँ की तरह समझने लगे तो तीन-चौथाई कटुता समाप्त हो जाती है।

सास-बहू की तरह ननद-भौजाई के संबंध भी बड़े जटिल बन जाते हैं। बहन भाई पर अपना पूर्ण अधिकार समझती है और अपने गर्व, अहं तथा व्यक्तित्व को भौजाई से ऊपर रखना चाहती हैं। इस महत्त्वाकांक्षा पर जरा भी आघात होते देख विग्रह का तानाबाना बुना जाने लगता है। भौजाई भी अपने पति को बहिन से अधिक रुचि लेते देख या उसे अधिक मान प्रतिष्ठा देते हुए देखकर ईर्ष्या से जलने लगती है। पति या भाई यदि अदूरदर्शी हुए तब तो समस्या बड़ी टेड़ी बन जाती है। ऐसी स्थिति में ननद भौजाई को परिष्कृत दृष्टिकोण अपनाने के साथ-साथ बहिन-बहिन जैसा अपनत्व स्थापित करना भी आवश्यक है।

भाई-भाई में भी स्वार्थ और अधिकार की लड़ाई चलती रहती है। परिवार में युवक सदस्य भी होते हैं। युवा प्रकृति प्रायः स्वछंदता चाहती है और अपने पर दूसरे का कम से कम नियंत्रण देखना पसंद करती है। यह बड़ी दुविधाजनक स्थिति है कि युवक एक ओर तो अपने आपको स्वच्छंद देखना चाहते हैं। दूसरी ओर अन्य सदस्यों पर भी अपना अधिकार जताने तथा उसका प्रयोग करने के लिए सचेष्ट होते देखे जाते हैं। मूलतः इसका कारण उद्धत अहं ही है। यह अहं ही है जो स्वयं पर दूसरों का अनुशासन पसंद नहीं करता और दूसरों को अपने नियंत्रण में रखना चाहता है।

बड़े भाई और छोटे भाई में इसीलिए नहीं पटती है कि बड़ा भाई अपने अनुज पर अपना अधिकार समझता है और उसके कामों में टोकाटाकी के साथ-साथ तरह-तरह से दखलंदाजी भी देता रहता

है। छोटा भाई जब अपने अग्रज को इस तरह टीका-टिप्पणी करते हुए देखता है तो उसे स्वाभाविक ही चिढ़ होती है। भाई-भाई यदि समझदारी से काम लें तो ऐसे कटुता उत्पन्न करने वाले प्रसंग उपस्थित ही नहीं होंगे। अपरिपक्व और कच्चे मन के युवक ही आवेश में आकर अकरणीय हस्तक्षेप कर बैठते हैं और अपने सगे भाई को अपना दुश्मन समझने लगते हैं। रक्त संबंध होने के कारण भाई अन्य रिश्तों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ और अधिक निकट होता है। यदि उस संबंध को प्रेम, स्नेह, आदर और सम्मान से सींचा जाए तो एक आदर्श उपस्थित किया जा सकता है। राम-लक्ष्मण, कृष्ण-बलराम आदि युग्म चरित्र एक साथ इतने वंदनीय क्यों हैं। इसीलिए कि उन्होंने एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझा और दृढ़तापूर्वक उसका पालन किया।

युवा और वयस्क सदस्यों के अतिरिक्त परिवार के वृद्ध सदस्यों का स्वभाव सुख-शांति के लिए एक समस्या उत्पन्न कर देता है। प्रायः देखा जाता है कि आयु बढ़ने के साथ परिवार के वृद्ध जन चिड़चिड़े गरम मिजाज और अर्ध स्वभाव के बन जाते हैं। जरा-सी असावधानी उन्हें नाराज कर देने के लिए काफी है और थोड़ी-सी गलती उन्हें आग बबूला कर देने के लिए पर्याप्त है। ऐसे वृद्ध क्रोध या उपेक्षा के नहीं दया के पात्र हैं और उनके साथ तुष्टीकरण की नीति अपनाना ही ज्यादा लाभदायक है।

जो वृद्धजन समझदार हैं वे सोच सकते हैं कि परिवार में उनका स्थान गरिमामय है। हमारे पास अनुभव है, दुनियांदारी का ज्ञान है, जिसके द्वारा हम घर के अन्य लोगों का मार्गदर्शन कर सकते हैं। यदि परिवार का कोई व्यक्ति हमारी बात नहीं मानता तो संभव है हम ही कहीं गलत हों। घर के अन्य सदस्यों को भी चाहिए कि वे वृद्धजनों की अकारण ही उपेक्षा न करने लगें। जब तक ऐसा कोई कारण न हो कि वृद्ध व्यक्ति दुराग्रही या सनकी प्रतीत न होने लगें तब तक उनकी राय को भी महत्त्व देना चाहिए।

यों श्रद्धा, प्रेम और सहयोग तो उन्हें हर हालत में दिया ही जाना चाहिए। उनकी सेवा, आज्ञा पालन, उनके स्वास्थ्य का ध्यान

रखते हुए, उनका हृदय जीता जा सकता है। प्रेम, सेवा और सहानुभूति द्वारा तो बुरे से बुरे व्यक्ति का अंतःकरण बदला जा सकता है फिर क्या कारण है कि शिथिल, अशक्त और रुग्ण वृद्धजनों के हृदय में स्थान न बनाया जा सके।

यह एक ध्यान देने योग्य तथ्य है कि सारी लड़ाई और सारा कलह अधिकार तथा स्वार्थ की भावना के कारण होता है। इसलिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को चाहिए कि घर में सुख-शांति बनाए रखने के लिए वह सामूहिकता की भावना का विकास करे और अधिक से अधिक कर्त्तव्य को महत्त्व दें। सारी सृष्टि ही सेवा, सहयोग के सिद्धांत से परिचालित है। दूसरों के लिए काम करना, अपने स्वार्थ को तिलांजलि देकर औरों को सुख पहुँचाना यही सृष्टि का नियम है। किसान औरों के निमित्त अनाज पैदा करता है, जुलाहा दूसरों के लिए वस्त्र बुनता है, दर्जी दूसरों को पहनने के कपड़े सींता है। इस समाज वसुधा—परिवार में ही यह नियम तथा इसी कारण चारों ओर सुख-शांति का राज्य है तो एक परिवार में ही हम अशांत होकर क्यों रहें ? परिवार के प्रत्येक सदस्य को त्याग, प्रेम, सहानुभूति तथा सेवा के दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए। इस दृष्टिकोण को अपनाने से छोटे-बड़े सभी झगड़े नष्ट हो जाएँगे और संकुचित वृत्ति, स्वार्थ की कालिमा, व्यर्थ वितंडावाद तथा अधिकार भावना के कारण परिवार में जो नाटकीय बादल घिरने लगते हैं वे छिटक सकेंगे।

❑ ❑

परिवार में सहयोग एवं सद्भावना की आवश्यकता !

घर में कटुतापूर्ण वातावरण है। एक-दूसरे को सहयोग अपना-बिराना सोचकर दिया जाता है। बहू के प्रति सास-ननद आदि के हृदय में कोई स्थान नहीं है। बहू घर में बीमार पड़ी है। उसे दवा, चाय, भोजन, पानी आदि की समय-समय पर आवश्यकता रहती है। किंतु इसकी व्यवस्था कौन करे उससे तो सभी परिवारीजन जले-भुने हैं। इधर पति भी खुले दिल से पत्नी की सेवा नहीं कर पाता है, क्योंकि घर में परंपरागत वातावरण है। पति स्वयं अपनी पत्नी की सेवा कैसे करे ? यह तो लोक के विरुद्ध है। भला कहीं मर्द को भी औरत की सेवा करना चाहिए। पति भी थोड़ा दबे स्वभाव का है। इसे कारण वह भी अपनी पत्नी की सेवा नहीं कर पाता है। इधर बेचारी पत्नी असहाय अवस्था में पड़ी कराहती रहती है किंतु उसकी कौन सुने ? थोड़ा-बहुत पति अपनी पत्नी के पास जाकर कुछ पूछताछ करता है तो घर में व्यंग्य की बरसात शुरू हो जाती है। क्या जमाना आ गया है ? औरतों के गुलाम हो गए हैं, आज के मर्द, तो ये व्यंग्य-वाण उसे सेवा करने से दूर कर देते हैं। पति मन ही मन परेशान है कि क्या करें ? पत्नी की हालत दिनों-दिन गिरती जा रही है घर का कोई सदस्य उसकी ठीक तरह से साज-सँभाल नहीं करता है।

आजकल परिवार के परिजन परस्पर सेवा की भावना नहीं रख पाते हैं। जैसे-तैसे परिवार तो दिखाई देते हैं। पर भीतर ही पारिवारीय भावना मर चुकी होती है। ऐसा लगता है, सभी किसी होटल में रहते हैं, जहाँ खाना व विश्राम करने को मिलता है। एक-दूसरे के दुख-दर्द से क्या मतलब ? आखिर क्या कारण है, परिवारों में परस्पर सेवा की भावना लुप्त होती जा रही है ?

परिवार के हर सदस्य को एक-दूसरे की सेवा करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ये ही क्षण होते हैं, जब एक-दूसरे के प्रति व्यवहारिक प्रेम अभिव्यक्त करते हैं। अन्यथा शाब्दिक प्रेम बनाए रखने से क्या लाभ ? किसी व्यक्ति के हृदय को जीतना है तो उसकी कष्ट और बीमारी के क्षणों में निःस्वार्थ भाव से सेवा कर दीजिए, वह सदा के लिए अपना हो जाता है।

सेवा के सुअवसर केवल बीमारी के समय ही नहीं रहते हैं। घर के परिजन पर किसी भी प्रकार की विपत्ति या कष्ट है, उस समय उसे सहायता पहुँचा देना ही सेवा है। संकट आर्थिक हो या सामाजिक हो, या राजनैतिक-कैसा भी संकट तो संकट है और उस समय पर हर आदमी को सहायता और सहयोग की आवश्यकता रहती है। इस समय सेवा पहुँचाना परिजनों का कर्त्तव्य है।

यदि बीमारी, कष्ट, विपत्ति संकट आदि के क्षणों में परिवार के परिजन एक-दूसरे के सहयोग, सहायता व सेवा के लिए हाथ बढ़ाते रहे तो परिवारीय-वातावरण में स्नेहिलता बनी रहती है। पति-पत्नी के दांपत्य जीवन में सुखप्रद आकर्षण बना रहेगा। वे एक-दूसरे के लिए हर घड़ी हर काम के लिए तत्पर रहेंगे। उनकी प्रसन्नता का प्रभाव यह होगा कि घर के परिजन भी प्रसन्न रहेंगे तथा परिजन भी सेवा की भावना बनाए रख सकेंगे। उनमें भी प्रसन्नता बनी रहेगी। इस प्रसन्नता के वातावरण में बच्चों का विकास भली-भाँति होता रहेगा तथा सहयोग, सहायता और सेवा का पाठ बच्चे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सीखते रहेंगे, जिसका उपयोग अपने भावी जीवन में कर सकेंगे। सहयोग, सहायता और सेवा की भावना के विकास पर परिवार की प्रसन्नता और प्रगति निर्भर है।

घर को तपोवन बनाने के लिए गृहपति को स्वयं तपस्वी बनना पड़ता है ताकि उसके अनुकरण में परिवार के सदस्यगण भी उसी दिशा में बढ़ते चले जाएँ। परिवार से श्रेष्ठ प्रेरणाएँ एवं आनंद प्राप्त करने के लिए उसका स्वरूप और वातावरण उत्कृष्ट स्तर का बनाना होता है।

आज यदि परिवार उल्लास, हर्ष, सुख, सौमनस्य, शांति, संतोष एवं प्रेरणा-प्रकाश नहीं दे पाते तो इसका कारण मात्र यही है कि परिवार के दर्शन एवं प्रयोजन को भुला दिया गया है। सड़ी कमजोर जड़ों वाले पेड़ों के गिरने में क्या आश्चर्य ? अतः यदि आज परिवार-व्यवस्था विघटित होती चली जा रही है और उससे मनुष्य की सुख-सुविधा में कोई सहायता मिलने के स्थान पर कष्ट क्लेश, असुविधा-असंतोष एवं अवरोध ही प्राप्त होते हैं तो इससे परिवार-संस्था ही दोषपूर्ण नहीं सिद्ध हो जाती। मध्य युगीन धार्मिक पंथों के रक्तरंजित संघर्ष और निरर्थक कर्मकांडों तथा अंधविश्वासों पर भी उनका आग्रह जिस प्रकार धर्म तंत्र को त्याज्य, दूषित नहीं सिद्ध करता, उसी प्रकार परिवार-जीवन में व्याप्त विशृंखलता, दुराग्रह और हताशा उसे त्याज्य नहीं सिद्ध करते।

जब परिवार-व्यवस्था इतनी श्रेष्ठ है और उसमें व्यक्ति निर्माण के सभी आधार सन्निहित हैं, तब आज वह सुसंस्कृत व्यक्तियों का उपहार समाज को देने में समर्थ क्यों नहीं सिद्ध हो रही है ? इसका एक ही कारण है—आज परिवार का जीर्ण-शीर्ण ढाँचा तो है पर उसकी प्राणशक्ति उसमें से विदा हो चुकी है। जहाँ परिवारों में इस प्राणशक्ति के कुछ अंश शेष हैं, वहाँ उसी मात्रा में वैसे परिणाम भी प्राप्त होते स्पष्ट देखे जा सकते हैं। हमारा शरीर हमें प्रिय लगता है। उसकी हम सयत्न देखभाल, साज-सम्हाल करते हैं, क्योंकि वह हमारे अंतःकरण और विवेक के अनुसार कार्य संपादित करने का समर्थ माध्यम बनता है। प्राणशक्ति से रहित होने पर यही शरीर दूषित मान लिया जाता है। उसे यथाशीघ्र घर से हटाने का प्रबंध किया जाता है। उसका स्पर्श भी अशुद्ध कर देने वाला माना जाता है। अतः प्राणशक्ति से रहित परिवार-व्यवस्था को यदि हेय, तुच्छ, दूषित करने वाली कहा गया तो ऐसा कहने वालों का अभिप्राय समझा जाना चाहिए। जब परिवार प्राण-शक्ति से रहित हों, उसमें व्यक्ति निर्माण तथा आत्म-परिष्कार की क्षमता प्रेरणा न रह जाए, अपितु वे मनुष्य के शोषण-स्खलन का आधार बन बैठें, तब इन्हें तिरस्कार और उपेक्षा

के योग्य कहने में अधिक अनौचित्य नहीं। परिवार की क्षत-विक्षत लाश के प्रति ही यह भाव व्यक्त हुआ माना जाना चाहिए।

परिवार की प्राण-शक्ति है—सघन आत्मीयता, प्रखर प्रेम। जहाँ समानता और अपनत्व की भाव-संवेदनाएँ नहीं हैं, वहाँ परिवार का निष्प्राण ढाँचा-सा समझा जाना चाहिए। भाव-संवेदना होगी, तो उसकी व्यवहार में स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी होगी। यह अभिव्यक्ति ही पारिवारिकता है।

परिवार व्यवस्था के जो भी लाभ गिनाए जाते हैं, वे पारिवारिकता के आधार के विद्यमान होने पर ही प्राप्त हो सकते हैं। जहाँ यह बुनियाद ही नहीं, वहाँ और किसी विस्तार की गुंजाइश कहाँ ?

परिवार में जब आत्मीयता, प्रेम की भाव-संवेदनाएँ और उत्कृष्टता-श्रेष्ठता की विचारधाराएँ हर सदस्य में भरी रहेंगी, तभी उसका वास्तविक सुख मिल सकेगा। मात्र साथ-साथ रहना परिवार-भावना का द्योतक नहीं जिनके बीच सुख-दुःख की समान अनुभूति है, सघन संवेदना है सहयोग का उत्साह है, उन्हें ही एक पारिवारिक इकाई कहा जा सकता है। जो परिवार एक इकाई की तरह, एक शरीर की तरह नहीं है, उसे सचमुच परिवार माना जाना भी कठिन है।

प्रगाढ़ आत्मीयता एक ऐसी सुखद संवेदना उत्पन्न करती है, जिसका आनंद ही स्वयं में अमूल्य है। यह भावनात्मक सघनता ही जीवन में सरसता उत्पन्न करती है। नीरस जीवन दूभर हो जाता है। परिवार यदि सरसता न उत्पन्न कर सके तो फिर उसकी क्या उपयोगिता है ? वह सहयोग-सद्भाव न बढ़ा सके तो उसकी क्या सार्थकता ? जहाँ संवेदनाओं का आदान-प्रदान न हो, वहाँ परिवार-भावना नहीं मानी जाएगी।

आदान-प्रदान सदैव समानों में होता है। श्रद्धा-आदर, स्नेह-दुलार, बड़े-छोटे के बीच शील-सौजन्य से समता का भाव खंडित नहीं होता। समता सच्चे अर्थों में आत्मीयता का ही दूसरा नाम है। दूसरे को भी ठीक अपने जैसा मानना ही समत्व-भावना है।

इसकी बाह्य अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है। स्वयं अपने साथ भी तो सदा एक-सा ही व्यवहार आवश्यक नहीं होता। जो आहार-विहार हमें स्वस्थ रहते हुए आवश्यक लगता है, अस्वस्थता की स्थिति में उसका स्वरूप एवं क्रम बदलना पड़ता है। जितना स्वाध्याय सामान्य क्रम में हम अपने लिए नियमित रूप से आवश्यक मानते हैं, विशेष कार्य-व्यस्तता में उस समय में कटौती करनी पड़ जाती है। क्रीड़ा-व्यायाम आदि के बारे में भी यही तथ्य लागू होते हैं। यही बात परिवार के भिन्न-भिन्न सदस्यों पर लागू होती है।

परिवार में समता का भाव तो रहना चाहिए, पर उसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिसकी क्षमता जिसे करने की नहीं है वह भी उसे बराबरी के आधार पर सौंप दिया जाए। बच्चे को समान मानने का अर्थ उसे तिजोरी की चाबी या पुस्तकालय की अकेले देख-रेख सौंप देना नहीं। इससे तो वह अपना और परिवार का अनिष्ट ही करेगा। छोटे भाई को अपने समान मानकर यदि उस पर भी परिवार का भार उतना ही सौंप दिया गया, तो उसका निर्वाह संभव न हो सकेगा। वृद्ध पिता के व्यक्तित्व के प्रति समत्व-भाव का अर्थ यदि उनसे अभी भी वैसे ही उपार्जन की अपेक्षा रखना हुआ, तो यह अन्यान्य ही सिद्ध होगा। इसलिए बाहरी व्यवहार में भिन्नता से समता-आत्मीयता की भावना का कोई अनिवार्य विरोध नहीं है।

आत्मीयता का व्यावहारिक रूप यह है कि विषमतावर्धक, क्रूरता पर आश्रित रूढ़ियों को समाप्त किया जाए। स्त्रियों को पददलित और वृद्धों को उपेक्षित तथा संतान को स्वेच्छाचारी बना रखने वाली व्यवस्थाएँ—मान्यताएँ त्याग दी जाएँ तथा प्रत्येक के प्रति उचित आदर-स्नेह का भाव रखा जाए। यह निरीक्षण करते रहा जाए कि परिवार के प्रत्येक स्त्री-पुरुष, बालक को शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक उन्नति का समुचित अवसर मिल रहा है या नहीं ? जीवन विकास एवं भविष्य-निर्माण के स्वाभाविक अधिकार से कोई वंचित तो नहीं हो रहा है ? या उसे दूसरों की तुलना में बहुत कम साधन तथा अवसर तो नहीं मिल रहे हैं ? किसी को अनावश्यक सुविधा मिल रही हो और किसी पर अनुचित दबाव पड़ रहा हो, ऐसी स्थिति तो नहीं है। जहाँ यह ध्यान रखा जा रहा

हो, वहीं पारिवारिक भावना है। जहाँ लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को, स्त्रियों की तुलना में पुरुषों को, संपत्ति न कमा रहे लोगों से उपार्जनशील लोगों को अधिक सुविधाएँ, अधिक सम्मान, खान-पान, वस्त्र, विहार, मनोरंजन के अधिक साधन तथा अवसर दिए जा रहे हों, वहाँ पारिवारिक भावना नहीं है। वहाँ तो अन्यायपूर्ण समझौता मात्र है। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली मान्यता को पारिवारिकता के आवरण में उचित नहीं ठहराया जा सकता। भले ही कमजोर-दबे लोग मुँह न खोलें, पर उनका मन ऐसे अन्याय, अनौचित्य एवं विषमता के विरुद्ध सदा विद्रोह ही करता रहेगा। अपनत्व का उल्लास ऐसे परिवारों में कभी भी स्थायी नहीं देखा पाया जा सकता।

कई गरीब घरों में स्वर्गीय प्रेम एवं आनंद का वातावरण पाया जाता है, जबकि अनेक अमीर घरों में कलह, दुराव, अलगाव, अकेलेपन से लोग पीड़ित देखे जाते हैं। यदि व्यवहार का संबंध आमदनी से होता तो यह स्थिति नहीं देखने में आती। आत्मीयता के लिए आर्थिक समृद्धि नहीं, आंतरिक समृद्धि की आवश्यकता होती है। अपनत्व-प्रसन्नता तथा मधुरता का स्वभाव यदि विकसित हो जाए, तो आर्थिक संकट उसे समाप्त नहीं कर सकते। सादगी, सात्विकता और संवेदना भरी सघन आत्मीयता विद्यमान हो तो कम आमदनी में भी आनंद-उल्लास में कमी नहीं आती, क्योंकि वहाँ सच्ची पारिवारिक भावना मनुष्य को शक्ति देती रहती है। यही पारिवारिकता की उपलब्धि है।

भारतीय और पाश्चात्य समाज, दोनों का अध्ययन विश्लेषण करने वाले समाजशास्त्रियों का यह सर्वसम्मत निष्कर्ष है कि भारतीय समाज पारिवारिक अधिक है, जबकि पश्चिमी समाज प्रधानतया: व्यक्तिगत है।

ऊपरी तौर पर, पत्नी और बच्चों के मामले में इन दिनों दोनों समाजों में कुछ साम्य दीखने लगा है उसका भी विवेचन किया गया है और पाया गया है कि अभी भी यह समानता मात्र ऊपरी है। भीतरी भिन्नता मुख्यतः दृष्टिकोण की है। दोनों समाजों की खामियाँ-कमियाँ भी इसी भिन्न दृष्टि के कारण अलग-अलग हैं और विशेषताएँ भी। बाहरी तौर पर देखना हो तो यह भिन्नता बच्चों के मामले में अधिक स्पष्टता से देखी-समझी जा सकती है। अधिकांश भारतीय माता-पिता आर्थिक अभाव के कारण बच्चों के लिए समुचित साधन तो नहीं जुटा पाते, किंतु

सभी भारतीय माता-पिता बच्चों के प्रति समान रूप से संवेदनशील तथा आत्मीय होते हैं। पश्चिमी माँ-बाप आजीविका के बाद बचे समय का एक सीमित अंश ही बच्चों के लिए देते हैं। शेष समय वे अपनी रुचियों के कार्य के लिए देते हैं। भारतीय माता-पिता अपने ऐसे समय का अधिकांश बच्चों के साथ बिताते हैं, विशेषकर माँ तो बच्चों के लिए ही अपना संपूर्ण अतिरिक्त समय देती है। पश्चिमी माता-पिता अपने उपार्जित धन का वह अंश जो दैनंदिन व्यवस्था-संचालन हेतु आवश्यक व्यय के अतिरिक्त बचता है, अपनी रुचियों साज-सँवार तथा अपने मनोविनोद में ही मुख्यतः लगाते हैं। भारतीय माता-पिता ऐसे धन को लगभग पूरी तरह बच्चों के लिए सुरक्षित रखने में ही जुटे रहते हैं। यह बात अलग है कि दहेज खर्चीले विवाह तथा अन्य ऐसी ही सामाजिक कुरीतियों के कारण यह धन बच्चों के उत्कर्ष में लगने के स्थान पर व्यर्थ ही खर्च होता है। वह एक भिन्न विषय है। जहाँ तक दृष्टिकोण की बात है, माता-पिता अपनी सुख-शांति, विश्राम-विनोद निजी रुचियाँ त्यागकर भी बच्चों के लिए ही साधन जुटाते हैं। अपने निजी कार्यक्रमों, भ्रमण, मनोरंजन आदि की व्यवस्था वे बच्चों की सुविधा के अनुसार बनाते हैं, जबकि पश्चिमी माँ-बाप अपने निजी कार्यक्रम अपनी सुविधा के अनुसार बनाते हैं।

इसके आगे की भिन्नताएँ तो और भी अधिक हैं। पश्चिम में परिवार का सर्व स्वीकृत अर्थ पति-पत्नी और बच्चे, इतना ही माना जाता है। भारत में 'परिवार' शब्द कहते ही माता-पिता, भाई-बहिन, लड़के-भतीजे, बेटियाँ-बहुएँ सब मस्तिष्क में कौंध जाता है। "परिवार की व्यवस्था करने के बाद ही तो पत्नी को अपने पास बुला सकता हूँ।" यह नौकरी पेशा औसत भारतीय पुरुष के शब्द चाहे जहाँ सुनने को मिल सकते हैं। उस समय उनका आशय वृद्ध माता-पिता तथा छोटे भाई-बहिनों आदि की व्यवस्था से ही होता है। बढ़ती आपाधापी के क्रम में बीबी-बच्चे लेकर अलग बस जाने वाले लोग भी परिवार की बात चलते ही माता-पिता, भाई-बहिन का भी स्मरण, उनकी चर्चा अवश्य ही कर उठेंगे। पारिवारिकता की इस भारतीय भावना को उपेक्षित नहीं संरक्षित संवर्धित किए जाने की आवश्यकता है।

जहाँ भी पारिवारिकता की भावना का ह्रास हुआ है, वहाँ कोई सत्परिणाम नहीं देखे गए हैं। अपितु अकेलापन और अलगाव ही बढ़ा

है। हारी-बीमारी में महँगी चिकित्सा-सुविधा तथा सेवक-सेविकाएँ जुटा पाना थोड़े लोगों के लिए ही संभव है, यह अलगाव बहुत महँगा सिद्ध होता है। प्रसव काल, रोग के आक्रमण, असमर्थता, दुर्घटना, लड़ाई-झगड़ा आदि में पग-पग पर अपनों की जरूरत महसूस होती है। जब पत्नी गर्भवती होती है, तब उसे अस्पताल में भर्ती करा देने भर से बात नहीं बनती, प्रसव-कष्ट के समय सघन सहानुभूति के लिए और उसके उपरांत जच्चा-बच्चा की साज-सम्हाल के लिए, आत्मीय परिजनों की तीव्र आवश्यकता का अनुभव होता है। नवजात शिशु को सम्हालते हुए, घर के अन्य काम कर पाना बहुत दुष्कर हो जाता है। यही स्थिति बीमारी तथा अन्य किसी कारण से उत्पन्न असमर्थता के समय होती है। उस समय परिवार के लोग जिस सहजता से सहयोग देते हैं, वैसा दूसरे कहाँ दे पाते हैं ?

आपसी सौहार्द्र-सहयोग, स्नेह-सौजन्य का नाम पारिवारिकता है। इसके बिना जीवन खींचतान, दाँव-पेंच में उलझा बोझिल सिलसिला बन जाता है। आनंद कोसों दूर भाग जाता है। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए वे प्रक्रियाएँ-प्रेरणाएँ तथा दिशाएँ अपनानी होंगी, जो पारिवारिकता की जिम्मेदारी भरी भावनाओं को ही प्रधानता दें। न कि उसकी उपेक्षा कर, बौद्धिक जोड़-तोड़, स्वार्थ केंद्रित समझौते तथा भावनाशून्य सहजीवन का विचार करें और इसे ही आधुनिकता मान बैठें। यह आधुनिकता बहुत महँगी पड़ेगी। इससे बचना चाहिए संयुक्त उत्तरदायित्वों की अवहेलना परिवार के प्रत्येक सदस्य को घाटे में ही रखती है।

घनिष्ठता-आत्मीयता को निरंतर विकसित करने वाली पारिवारिक भावना ही उन उपलब्धियों का सुख एवं आनंद दे सकती है, जो परिवार-व्यवस्था से मिलते रहे हैं, परंतु इन दिनों खत्म हो चले हैं। उस भावना के बिना सामूहिक निवास से परिवार की सुवास नहीं आ सकती। द्वेष-दुर्भाव की दुर्गंध ही फैलेगी। स्वर्ग सुख की पुनः अनुभूति के लिए स्नेह सहकार, उदारता, कृतज्ञता, दायित्वों की आत्मीयता-सद्भाव पर आधारित परिवार-भावना ही अपनानी होगी।

❑ ❑

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा